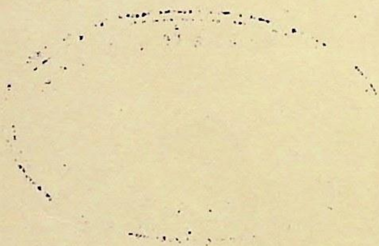
आदर्श और यथार्थ

—पुरुषोत्तम



नवभारतीय ग्रंथमाला–२

आदर्श और यथार्थ

अर्थात्

काव्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद
का विवेक, विवेचन और समन्वय

पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव, एम० ए०

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक—महताब राय, नागरी मुद्रण, काशी
द्वितीय सं०, संवत् २००६ वि०, २००० प्रति
मूल्य २)

मूर्तियाँ खड़ी कर सकता है, पर उपादान परिचित ही होते हैं, उनमें मौलिक नवीनता लाना मन के मान का नहीं। मन अपनी योजनाशक्ति की सहायता से जो नई सृष्टि करता है उसे विलक्षण होने पर भी सलक्षण और असंगत होने पर भी सुसंगत होना चाहिए। अन्यथा बुद्धि, जिसका पद मन से ऊँचा है, उसको हेय समझती है, बावले का हवाई किला मानती है। मनःकल्पित प्रत्येक वस्तु बुद्धिग्राह्य होनी चाहिए। इसी तिनके की ओट में ही तो पागल और सरेख के भेद का पहाड़ है। मनसाराम केवल उत्पादक ही नहीं, बड़े भावुक भी हैं। अपनी ही रचना पर समय से रीझ या खीझ जाया करते हैं। अस्तु। इतने पर भी मन और बुद्धि करण या साधन ही हैं। अतः उनमें स्वतः चेतनता या प्रकाश नहीं होता। वे जिसके प्रकाश में अपना अपना कार्य करते हैं वह स्वतःप्रकाश सच्चिदानंद आत्मा सबका तटस्थ साक्षी है।

मधुमती भूमिका में पहुँचा कवि का मन जब उल्लसित होकर नवीन सृष्टि का आरंभ करता है और अपनी ही सृष्टि की सुंदरता पर मुग्ध होकर रीझता है उस समय उसकी समस्त वृत्तियाँ एकतान, एकलय हो जाती हैं। इसी लिये उसकी रचना भावों का संगीत है। मन की इस एकविषयावगाहिनी निरोधावस्था से चित् (= ज्ञान) का आवरण-भंग होता है; अर्थात् मन जब

विक्षिप्त होकर इधर उधर अनेक विषयों पर दौड़ता है उस समय अपनी इस विक्षेपक्रिया से वह नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव चित् पर एक प्रकार का पर्दा सा डालता रहता है, पर जहाँ उसकी यह विक्षेपावस्था निरोधावस्था में बदली कि उसका आवरण डालना बंद हो जाता है और चित् निरावरण होकर चमकने लगता है। इस अवस्था में वह अनुभविता और अनुभाव्य अथवा द्रष्टा और दृश्य दोनों है, इसी लिये निरावरण चित् को आनंदस्वरूप का अनुभव करने के लिये किसी दूसरे अनुभविता की आवश्यकता नहीं होती। आत्मा के इसी आनंदस्वरूप को **रस** कहते हैं, जिसका निर्देशमात्र इस पुस्तक के लेखक ने ५३ पृष्ठ पर किया है। कवि के समान हृदयालु सहृदय (आजकल का समीक्षक, समालोचक या Critic) भी जब उसी भूमिका का स्पर्श करता है, तो उसकी भी वृत्तियाँ उसी प्रकार एकतान, एकलय हो जाती हैं (जिसके लिये पारिभाषिक शब्द साधारणीकरण है) और उसे भी वही संगीत सुनाई पड़ने लगता है, उसी आनंद की झलक मिलती है। इसी साधारण अवस्था में पहुँचने की शक्ति उसे कुछ तो कवि की सृष्टि की विशेषता और कुछ अपने संस्कार दोनों ही यथातथ प्रदान करते है। कवि और सहृदय दोनों साधारण होते हुए भी भिन्न हैं। एक की प्रतिभा उत्पादक और दूसरे की ग्राहक होती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने पहली को 'प्रख्या' और दूसरी को

'उपाख्या' कहा है। राजशेखर ने एक को 'कारयित्री प्रतिभा' और दूसरी को 'भावयित्री प्रतिभा' नाम दिया है।

भिन्न भिन्न कवि-सहृदय अपनी शक्ति के अनुसार कभी प्रतिपाद्य विषयों की, कभी प्रतिपादक शब्दों की अथवा कभी दोनों की नई से नई उद्भावना या भावना करके उसी आनंद की उपलब्धि किया या कराया करते हैं, पर सबके प्रयास का फल एक समान नहीं होता। मात्राभेद से किसी को आनंद, किसी को आनंदाभास और किसी को चमत्कारमात्र नसीब होता है।

पश्चिम के साहित्यसमीक्षकों ने साध्य फलोपलब्धि का उतना विवेचन नहीं किया है जितना साधनों का। वे प्रतिपाद्य विषय, उसके प्रातिभ और प्रत्यक्ष रूप, प्रतिपादक शब्द, उनकी अभिव्यंजकता और प्रभविष्णुता, मन और मनोवृत्तियाँ, उनका व्यक्तिवैचित्र्य के कारण नानात्व और सांकर्य तथा काव्यक्षेत्र में उनका विकास और विस्तार, बुद्धि और बुद्धि-व्यापार, काव्य में उसके उपयोग का तारतम्य, आदि आदि अनेक साधनों का विस्तृत विचार करते हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से बहिरंग साधनों का आश्रय लेकर भी उनकी समीक्षापद्धतियाँ प्रचलित हैं।

इस पुस्तक में लेखक ने इसी प्रकार के कुछ ज्ञातव्य साधनों की अवतारणा करके उनके विवेचन का प्रयास किया है। आज-

कल हिंदी में साहित्यसमीक्षा का जो ढंग प्रचलित हो रहा है उसके विचार से इस प्रकार का प्रयास अभिनंदनीय ही है। क्या ही अच्छा हो यदि कोई व्यक्ति इन सभी पद्धतियों का निरूपण शास्त्रीय रीति से कर दे। आशा तो होती है कि इस संघर्षयुग की तात्कालिक अहमहमिका किसी न किसी माई के लाल को इस दिशा में भी प्रेरित करेगी।

१७-६-३७
काशी

केशवप्रसाद मिश्र

विषय-सूची

काव्य में

आदर्शवाद और यथार्थवाद

पहला प्रकरण

विषयप्रवेश

प्रत्येक व्यक्ति के विचारों में कुछ न कुछ मौलिकता होती है। सामाजिक भावनाओं से प्रभावित होने पर भी वह मौलिकता बनी रह सकती है। समाज का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक व्यक्ति की उच्छृंखलताओं का नियंत्रण करते हुए भी उसकी विचारमौलिकता की रक्षा करे, क्योंकि समाज की उन्नति व्यक्तिगत विचारों की ही श्रेष्ठता पर अवलंबित है।

प्रत्येक समाज की संस्कृति में भी कुछ न कुछ विशेषता हुआ करती है, और अन्य समाज उससे लाभान्वित हो सकते हैं। परंतु यह तभी संभव है, जब प्रत्येक समाज अपनी संकीर्णताओं का त्याग करने में उदार होकर भी अपनी संस्कृति की मौलिकता की रक्षा के लिये अन्य समाजों का मानसिक दासत्व स्वीकार न करे। राजनीतिक दासत्व होते हुए भी मानसिक स्वतंत्रता की रक्षा की जा सकती है; और यदि मानसिक स्वतंत्रता बची रह सके तो केवल उसी के बल पर कोई देश, जाति वा समाज संसार के अन्य देश, जाति वा समाजों के बीच पुनः अपना उचित स्थान प्राप्त करके अपना और दूसरों का हितसाधन कर सकता है।* मानसिक स्वातंत्र्य की रक्षा साहित्य की उन्नति द्वारा ही संभव है।

साहित्य या काव्य के महत्त्व को आज भली भाँति समझा नहीं जा रहा है। इस विज्ञान और व्यापार के युग में उसके अध्ययन-अनुशीलन को निरर्थक समझने की

---

* सौभाग्य से यह लिखने के दस वर्ष बाद ही भारत की मानसिक स्वतंत्रता ने उसे राजनीतिक स्वतंत्रता भी दिला दी जिससे आज उसे उन्नति के बहुमूल्य अवसर प्राप्त हैं।

प्रवृत्ति बढ़ रही है। परंतु यह बहुत बड़ा भ्रम है। विज्ञान और व्यापार तथा इनसे फूलने-फलनेवाली शक्तियाँ जीवन के लिये सब साधन जुटा सकती हैं, किंतु मानव-संबंधों को प्रिय और मधुर बनाना या बनाए रखना उनके सामर्थ्य की बात नहीं है। यह कार्य तो साहित्य के द्वारा ही संभव है, और इसे न समझने के कारण ही विश्व आज विज्ञान से जितना सुखी नहीं है उतना उसकी संहार-विभीषिका से त्रस्त है। अस्तु।

भारतीय इतिहास के इस परिवर्तन-युग में हिंदी साहित्य की सर्वांगीण उन्नति हो रही है। इस उन्नति में अंग्रेजी साहित्य का बहुत कुछ हाथ है। संसार की एक उन्नतिशील जाति के साहित्य से हमारे साहित्य का संसर्ग होना दुर्भाग्य की बात नहीं है। किंतु यदि हम उस संसर्ग से उचित लाभ न उठाकर निष्क्रिय भाव से उसके साहित्य का प्रभुत्व स्वीकार कर लें तो यह हमारे लिये राजनीतिक अधःपतन की अपेक्षा भी कहीं अधिक दुःख का विषय होगा। हमारा नव-साहित्य अभी बाल्यावस्था में है और पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त अंग्रेजी साहित्य से उसका संबंध दिनोंदिन घनिष्ठ होता जा रहा है और भविष्य में भी ऐसा होते रहने की ही संभावना है। अंग्रेजी ही क्यों, संसार के

सभी उन्नत साहित्यों से हमारा संपर्क संभव है और उनकी ओर आकर्षित होना, उनसे प्रभावित होना हमारे लिये स्वाभाविक है। ऐसी अवस्था में अपनी संस्कृति से आत्मीयता खो बैठना हमारे लिये कोई असाधारण बात न होगी। अतः इस चेतना को उद्बुद्ध रखकर ही हमें इस समय अपने साहित्य के निर्माण में प्रयत्नशील होना चाहिए।

वर्तमान हिंदी साहित्य में एक ऐसी सर्वांगपूर्ण समालोचनापद्धति का अभाव बहुत खटकता है जो उसकी आत्मीयता की रक्षा करते हुए उसके निर्माण में उचित रूप से सहायक हो। इधर प्रायः अंग्रेजी साहित्य में प्रचलित यूरोपीय समीक्षापद्धति के कुछ शब्दों को लेकर उन्हीं के आधार पर अपने साहित्य की भी समालोचना करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। कुछ नवीनता दिखाने के लोभ में विदेशी साहित्यों के दो चार शब्द इधर-उधर से झपटकर कुछ लोग तारे तोड़ लाने के से सुख का अनुभव करते हैं। परंतु समझना चाहिए कि किसी साहित्य में प्रचलित एक एक शब्द के साथ उसका सैकड़ों वर्ष का इतिहास लिपटा रहता है, और उसका अर्थ भी वैसा ही जटिल होता है। यूरोपीय साहित्य का इतिहास हमारे साहित्य के इतिहास

से अत्यंत भिन्न है। अतः उसमें के पारिभाषिक शब्दों की पूर्ण परीक्षा किए बिना ही अपने साहित्य की आलोचना में उनका प्रयोग करने से अर्थभ्रम हो सकता है और हम अपने साहित्य के प्रति अन्याय कर जा सकते हैं। इस कारण जब तक हमारी कोई अपनी स्वतंत्र और मान्य समीक्षापद्धति न बन जाय, तब तक हमें अंग्रेजी साहित्य अथवा भिन्न परंपरावाले किसी भी साहित्य का आश्रय लेने में विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता है।

अंग्रेजी साहित्य में दो विरोधी सिद्धांतों वा प्रवृत्तियों के सूचक अनेक शब्द प्रचलित हैं। उन्हीं में से दो शब्द 'आइडियलिज्म' (Idealism) और 'रियलिज्म' (Realism) भी हैं, जिनका अनुवाद हिंदी में क्रम से 'आदर्शवाद' और 'यथार्थवाद' किया गया है। इस प्रबंध में 'आदर्शवाद' और यथार्थवाद के वास्तविक स्वरूप की परीक्षा करके, उनके ऐतिहासिक विकास पर भी दृष्टि डालते हुए, यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि काव्य में सिद्धांततः इन दोनों प्रवृत्तियों का कोई विरोध नहीं है।

काव्य का मूल भाव है। भाव हमारे मन में 'यथार्थ' वस्तुओं (Things which have Objective Reality) के साक्षात्कार से उत्पन्न वा जागरित होते हैं।

इस लिये काव्य में 'यथार्थ' (Objective Reality) का बहिष्कार नहीं किया जा सकता। परंतु भाव वस्तुएँ नहीं, प्रत्युत वस्तुओं के द्वारा हमारे मन पर पड़े हुए प्रभाव हैं और हमारा मानस प्रिय प्रभाव का ही पक्षपाती है, अप्रिय का नहीं। अतः जो वस्तुएँ हमपर प्रिय प्रभाव डालनेवाली होती हैं, उन्हीं को हमारा मन ग्रहण करता है और जिन वस्तुओं के यथार्थ (Real) रूप-गुण हमें अप्रिय होते हैं उन्हें प्रिय से संबद्ध कर अथवा उनमें प्रिय का आरोप कर हम उन्हें भी अपने मानस के अनुकूल बना लेते हैं, उन्हें एक मानस वा 'आदर्श' (Ideal) रूप दे देते हैं। इस कारण काव्य में केवल यथार्थ वा बाह्य सत्य ही सत्य नहीं हैं, अपितु मानस सत्य भी सत्य हैं। मानस सत्य का आधार यथार्थ वा लोकगत सत्य है इसे भूल जाने से ही विरोध उत्पन्न होता है। इस बात को अंतिम दो प्रकरणों में हिंदी काव्य के कुछ उदाहरणों द्वारा भी स्पष्ट करके आदर्शवाद और यथार्थवाद के संभावित विरोध को मिटाने की चेष्टा की गई है। अतः हिंदी में कौन-कौन कवि आदर्शवादी हैं और कौन-कौन यथार्थवादी, इस प्रकार का वर्गीकरण इस प्रबंध के उद्देश्य के बाहर है।

इस प्रबंध का संबंध जितना सिद्धांत से है, उतना उसके

प्रयोग (Application) से नहीं। अतः इसमें संपूर्ण हिंदी काव्य अथवा किसी कवि के समस्त काव्यग्रंथों का विवेचन संभव नहीं है। जिन काव्यों का इसमें समावेश हो सका है वे केवल आवश्यक उदाहरण के रूप में ही लिए गए हैं।

शब्दों के प्रयोग के विषय में यह निवेदन है कि इस प्रबंध में जहाँ पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता पड़ी है वहाँ अधिकतर तो प्रचलित शब्द ही लिए गए हैं, परंतु जो शब्द गृहीत अर्थ में अप्रचलित वा अल्पप्रचलित हैं, उनका अर्थ वहीं अथवा परिशिष्ट २ में स्पष्ट कर दिया गया है।

दूसरा प्रकरण

मानवजीवन में आदर्श और यथार्थ

मनुष्य जिज्ञासाविशिष्ट प्राणी है। जिज्ञासा दो प्रकार की होती है; अथवा यों कहिए कि प्रत्यक्ष रूप में जिज्ञासा के दो क्षेत्र जान पड़ते हैं—अंतर्जगत् और बाह्य जगत्। बाह्य जगत् की वस्तुओं का हमारे बाह्य करणों से संपर्क होने पर हमें शीत, उष्ण, कोमल, कठोर, कट्वम्लादि अनुभव होते हैं। यह वस्तुज्ञान हमारे शारीरिक अथवा 'पाशव' जीवन की रक्षा का हेतु है। इसमें मानव-जीवन की कोई विशेषता नहीं। इस प्रकार का ज्ञान पशुपक्षियों को भी होता है। किंतु उन्हें यह अनुभव नहीं होता कि 'हमने अमुक वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया'। मनुष्य को यह अनुभव होता है। यही उसकी विशेषता है। इसी 'हम' अथवा

'अहम्' की अनुभूति उसकी दृष्टि को अंतर्मुखी कर देती है, और वह अंतःकरण की शक्तियों द्वारा अपने भीतर और बाह्य जगत् में भी छिपी हुई किसी अज्ञात सत्ता का अनुसंधान करके आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म आदि की सृष्टि करता है।

हमारी जिज्ञासा चाहे अंतर्मुखी होकर तप, शुद्धि, साधना, चिंतन, ध्यान आदि के द्वारा हमें अध्यात्मतत्त्व का साक्षात्कार कराए अथवा बहिर्मुखी होकर भूतविद्या की सहायता से हमें बाह्य प्रकृति के गूढ़ तत्त्वों की छानबीन करने के लिये प्रेरित करे, परंतु यह निश्चित है कि यदि हममें 'एकीकरण' की विलक्षण शक्ति और प्रवृत्ति न हो, तो पशु-पक्षियों की भाँति हमारा भी संबंध संसार से आहारनिद्रादि तक ही रह जाय। यदि सृष्टि का कभी आदि हो सकता है, तो तब से लेकर आज तक मनुष्य ने जो कुछ संचय किया है, उसका कारण यही एकीकरण की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति क्या है और किस प्रकार हमारे जीवन में कार्य करती है, इसे स्पष्ट समझा जा सकता है। हमने एक वस्तु को देखा और उसे 'गाय' कह दिया। रंगरूप डीलडौल आदि में भिन्न होने पर भी अन्य गायों में कोई सामान्य 'एकता' देखकर हमने सब गायों को 'गाय' ही संज्ञा दे दी। उनसे

भिन्न घोड़े, ऊँट आदि को देखकर किसी समान एकता के कारण हमने उन सबको 'पशु' कह दिया। पशु, पक्षी, मनुष्यादि परस्पर अत्यंत भिन्न होने पर भी प्राणवान् होने के कारण सबके सब समान रूप से 'प्राणी' कहलाए। इसी प्रकार सभी पथों और क्षेत्रों में हमारी एकीकरण की बुद्धि* काम करती है। कुटुंब, समाज, राष्ट्र, मानवकुटुंब अथवा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की कल्पना वा स्थापना इसी एकीकरण की बुद्धि पर ही निर्भर है। सत्य का अनुसंधान और कुछ नहीं, प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप में यही एकीकरण की क्रिया है—अपने और विश्व के बीच एकता अनुभव करने का सतत प्रयत्न है। सर्वव्यापक मूल एकता के अनुसंधान में सफल होने पर संभवतः और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता।†

---

* न्याय में इसी को सामान्यज्ञान अथवा सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति कहा है। परंतु एकीकरण यहाँ अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

† उपनिषद् की भाषा में, एकत्व का दर्शन करनेवाले को कोई मोह वा शोक नहीं हो सकता—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशोपनिषत्)।

एकीकरण का पथ विकास और वृद्धि का पथ है। इसका छोर अनिश्चित है। किंतु इसी पथ पर चलकर हमारे यहाँ एक 'मूल एकता' की, इस विश्ववृक्ष के बीज की, अद्वैत अथवा ब्रह्म की स्थापना हुई; और यूरप में भी पत्ती पत्ती की छानबीन करने के उपरांत एक ही मूलतत्त्व का, अद्वैत—जड़ाद्वैत ही सही—का आविष्कार हुआ। यदि एकीकरण की बुद्धि अदुष्ट रूप में, दुराग्रह का रूप धारण न कर, काम करती रहे तो संसार में इतने संघर्ष न हों। द्वैतभाव से ही द्वंद्व और विरोध होता है। द्वैत अथवा अनेकता, और एकता, दोनों ही सत्य हैं। विश्व की अनेकरूपता सत्य की ही अनेकरूपता है, और उसके मूल की व्यापक एकता भी उसी सत्य की एकरूपता है। 'हम जिन नाना रूपों का साक्षात्कार कर रहे हैं, केवल वे ही सत्य हैं' अथवा 'उन नाना रूपों के—और अपने भी—मूल में हम जिस अदृश्य बुद्धिगम्य एकता का अनुभव कर रहे हैं, केवल वही सत्य है, और सब मिथ्या है' इस प्रकार की हठधर्मिता ही अधिभूतवाद और अध्यात्मवाद के विरोध का कारण है। यहाँ मनुष्य की अंतर्वृत्तियों के शास्त्रीय विवेचन का अवसर नहीं है, किंतु यह कह देना आवश्यक है कि 'श्रद्धा' और 'संशय' इन दो व्यापक वृत्तियों का सामंजस्य ही हमें शुद्ध मार्ग पर

ले चल सकता है। 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया' मिथ्या कदापि नहीं हो सकती, जो कुछ हम देखते सुनते और समझते हैं अर्थात् जो कुछ हमें ज्ञात है वह सब सत्य है—यही श्रद्धा की व्यापक भावना है। श्रद्धा ज्ञात ही के प्रति हो सकती है। ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ ज्ञात सत्यों में से क्रमशः एक नया ही सत्य उद्घाटित होता है। तब उन ज्ञात सत्यों के प्रति हमारी जो इस प्रकार की भावना होती है कि यह सत्य है, यह भी सत्य है, और यह भी सत्य ही है, किंतु नहीं, ये सब मूल वा पूर्ण सत्य नहीं हैं, इनके भीतर कोई और ही सत्य है—वही है संशय की व्यापक वृत्ति।

श्रद्धा के मूल में अनुभूति विद्यमान रहती है और संशय के मूल में जिज्ञासा। श्रद्धा 'अनुभूति' के द्वारा ज्ञान को स्थिर और दृढ़ करती है; और संशय ज्ञान को जिज्ञासा-प्रेरित 'तर्क' एवं परीक्षा द्वारा आगे बढ़ाता है। श्रद्धा का गुण है स्थैर्य और संशय का प्रगतिशीलता। धर्म, समाज राज-नीति आदि के समस्त व्यावहारिक नियमों की निर्मिति और रक्षा एवं काव्यादि की रचना श्रद्धा पर अवलंबित है। विज्ञान तथा दर्शन शास्त्रों का आधार संशय है। श्रद्धा और संशय दोनों जब सहयोग से काम करते हैं तभी हमारा

ज्ञान और हमारा जीवन पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। केवल संशय से जीवन की रक्षा नहीं हो सकती—'संशयात्मा विनश्यति'। केवल श्रद्धा से विकास रुक जाता है—समस्त संसार किसी अंधकूप में ही समा जाता है।

यों श्रद्धा और संशय में परस्पर विरोध नहीं है। वस्तुतः संशय के मूल में भी श्रद्धा विराजमान रहती है। श्रद्धा के बिना संशय का कोई अस्तित्व नहीं। दूसरे शब्दों में, अनुभूति के बिना जिज्ञासा नहीं हो सकती। अनुभूति के कारण और अनुभूति के लिये ही जिज्ञासा होती है। जिस वस्तु का हमपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जिस वस्तु की हमें कोई अनुभूति नहीं होती, उसके विषय में हमारी कुछ जानने की उत्कंठा नहीं होती। उसकी कुछ अनुभूति होने पर ही हम उसके विषय में और जानने की इच्छा करते हैं। साथ ही, जब तक हम उसके विषय में कुछ जानते नहीं तब तक हमारे हृदय पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, उसके अस्तित्व वा गुण-दोष की यथार्थता में हमारी श्रद्धा नहीं हो सकती।

ऊपर कहा जा चुका है कि सत्य के अनुसंधान, ज्ञान की प्राप्ति और एकीकरण की प्रवृत्ति में तत्त्वतः कोई भेद

नहीं है। एकता की अनुभूति में आनंद होता है। आनंद किसी अभाव की पूर्ति है, किसी आकांक्षा की तृप्ति है, किसी बंधन से मुक्ति है, दुःखनाश, मोहभंग वा प्रकाश है, यह सब है किंवा इनमें से कोई नहीं है, यह हम यहाँ नहीं बतला सकते, पर एकता के अनुभव से हमारी चित्त-वृत्ति अवश्य ऐसी हो जाती है जिसे हम आनंद कहते हैं। तब एकता की अनुभूति के साथ साथ आनंद की भी उत्त-रोत्तर वृद्धि स्वाभाविक है और पूर्ण एकता की अनुभूति से पूर्ण आनंद की प्राप्ति हो सकती है। क्या एकता की अनु-भूति और आनंद दोनों एक ही वस्तु हैं ? तब तो सचमुच सत्, चित (ज्ञान), और आनंद में कोई अंतर नहीं रह जाता और उस 'चरम एकता' का सच्चिदानंदस्वरूप होना समझ में आ जाता है जिसकी अद्वितीयता उपनिषत्काल से ऋषि और संतगण घोषित करते आए हैं।

ध्यान और चिंतन के द्वारा एक और पूर्ण निर्विशेष ब्रह्म (Absolute Entity) का साक्षात्कार और पूर्ण निर्विशेष आनंद की प्राप्ति होती है या नहीं, अथवा कैसे होती है, यह हमारे विषय से बाहर की बात है। पर द्वंद्व के नाश से, एकता के अनुभव से, हम अपने साधारण जीवन में भी आनंद प्राप्त करते हैं। इस एकता को हम

अनेक का संयोग या द्वंद्वभंग कहने की अपेक्षा 'तादात्म्य' कहना अधिक सार्थक समझते हैं।

संसार में जितनी भिन्नता है, उतने ही प्रकार के हमारे अनुभव भी होते हैं। जितनी वस्तुओं से हम तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं उतने अनुभव हमें आनंदमय वा सुखकर प्रतीत होते हैं। उन वस्तुओं की ओर हमारी प्रवृत्ति वा 'रति' होती है। जिन पदार्थों को हम अपने से भिन्न समझते हैं, उनसे हमें दुःख होता है। उनसे हम निवृत्ति चाहते हैं—उनसे 'विरत' हो जाते हैं। काव्य से रति-विरति का क्या संबंध है यह अन्यत्र स्पष्ट कर दिया जायगा। यहाँ केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि मानव-जीवन के विकास में ये भाव व्यापक रूप से काम करते हैं।

मनुष्य की बुद्धि के लिये बाहर की वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है, जितना अपने आंतरिक जीवन का। हमारी आँखें सारा संसार देखकर भी स्वयं अपने ही को नहीं देख पातीं। अपना रूप देखने के लिये उन्हें दर्पण का सहारा लेना पड़ता है। हम क्या चाहते हैं, यह भी जानना हमारे लिये कठिन होता है। यदि यही जान जायँ, तब तो अवश्य हमारी बुद्धि स्थिर और 'व्यव-

सायात्मिका' हो जाय और हम 'स्थितप्रज्ञ' हो जायँ।* फिर भी पूछने पर यह उत्तर देना सुगम है कि हम आनंद या सुख चाहते हैं। वस्तुओं, अनुभूतियों और भावों की भाँति सुखों की भी अनेकप्रकारता प्रसिद्ध है। परंतु हमारी समझ में वे कथित प्रकार वस्तुतः आनंद के भेद नहीं, प्रत्युत चरम आनंद के पथ की सीढ़ियाँ हैं। चरम एकता की ओर हम जितना ही आगे बढ़ते जाते हैं, अपने को शेष विश्व से भिन्न सत्ता समझने से हम जितनी ही दूर हटते जाते हैं, अथवा यों कहें कि हम जगत् से तादात्म्य स्थापित करने में जितने अधिक सफल होते जाते हैं, उतना ही आनंद का परिष्कृत एवं स्थायी रूप हमें मिलता जाता है। अखिल विश्व का तादात्म्यलाभ कर लेने पर अवश्य ही द्वंद्व मिट जा सकता है और सत्, चित्, आनंद के पूर्ण स्वरूप से हम दूर नहीं रह सकते। सांत और ससीम जीवन में अनंत और असीम सत्ता के मेल (Infinite in the finite) का इससे अधिक संगत अर्थ क्या हो सकता है!

---

* जब मनुष्य समस्त कामनाओं का त्याग कर अपने आपमें तुष्ट रहता है तो वह 'स्थितप्रज्ञ' कहलाता है। विशेष वर्णन के लिये द्रष्टव्य गीता, अध्याय २, श्लोक ५५ ।

मानव जाति आनंद के लिये सदा प्रयत्नशील रहती है। आनंद की धारणा उसे जिस रूप में होती है उसी के अनुसार वह अपना आदर्श बना लेती है। वही आदर्श उसका स्वर्ग या बिहिश्त, मोक्ष अथवा इष्टदेव बन जाता है, शिक्षा और उपदेश द्वारा उसी का समाज में प्रचार किया जाता है और मनोवांछित आनंद के लिये सब उसी की उपासना में प्रवृत्त होते हैं। यह आदर्श सदा एक-सा नहीं रहता। सभ्यता के विकास के साथ उसका भी विकास, फलतः उसके रूप में परिवर्तन होता रहता है। अपने आनंद की पूर्णता के लिये हम अपनी भावना के अनुसार आदर्श (Ideal) को भी पूर्ण बनाने और उसे प्राप्त करने* का प्रयत्न करते हैं। उसी पर दृष्टि रखकर हम क्रमशः अपने जीवन को ऊँचा उठाते हैं। संकीर्ण स्वार्थों के संघर्ष से विह्वल होकर जब हम गिरना चाहते हैं, तब हमारा आदर्श ही हमें सँभाल लेता है। आदर्श के बिना मानव जाति की उन्नति नहीं हो सकती। आदर्श हमारे जीवन में हमारा उसी प्रकार पथ-प्रदर्शन करता है जिस

---

* To realize the ideal; उपनिषदों की भाषा में इसे 'काष्ठा'-प्राप्ति कह सकते हैं--'सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठ० १।३।११)।

प्रकार मार्ग भूल जाने पर दूर से दिखाई पड़नेवाला मंदिर का ऊँचा कँगूरा।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि मंदिर के कँगूरे का शीर्ष यद्यपि हमसे बहुत ऊँचाई पर है, और उसका लक्ष्य हमसे अत्यंत विपरीत दिशा की ओर जान पड़ता है, वह हमारे हाथ में आनेवाली वस्तु नहीं दिखाई देता, तथापि उसका आधार वही धरती है जिसपर हम खड़े हैं। उसी प्रकार आदर्श की दिशा हमारे साधारण लोक से ऊपर की ओर होती है अवश्य, परंतु हमारे साधारण लोक के सत्यों पर ही वह खड़ा होता है। प्रायः लोग लौकिक, गोचर या इंद्रियग्राह्य सत्य को ही सत्य, तथ्य अथवा यथार्थ कहा करते हैं। वही सत्य, तथ्य अथवा यथार्थ आदर्श का आधार होता है। लौकिक, गोचर, द्वंद्वमय, व्यक्त और अनित्य सत्यों के भीतर ही वह सत्य रहता है जिसे हम अलौकिक, अगोचर, अद्वैत, अव्यक्त और नित्य कहते हैं। अतः मानव-जीवन के लिये आदर्श और यथार्थ दोनों की अनिवार्य आवश्यकता है। दोनों में से हम किसी को छोड़ नहीं सकते।

तीसरा प्रकरण

आदर्श और यथार्थ के स्वरूप

जो कुछ है वह 'सत्य' है। जो कुछ हम देखते या सुनते हैं, जिसका अनुभव वा अनुमान करते हैं, जिसकी कल्पना करते हैं, जिसे बुद्धि से जानते हैं अथवा जिसका हमें आभास मिलता है, वह सब 'है', इसलिये सत्य है। सब एक ही सत्य के रूप या विस्तार हैं। अपने व्यवहारसुख के लिये हम उनके बाह्य गुणभेदों के अनुसार उनके भिन्न-भिन्न नाम रख लेते हैं। इस दृष्टि से सत्य के दो स्थूल भेद किए जा सकते हैं—एक तो व्यक्त, क्षर अथवा अनित्य; और दूसरा अव्यक्त, अक्षर अथवा अनित्य। ज्ञान और आनंद के भी ये ही भेद किए जा सकते हैं, क्योंकि जैसा पूर्व प्रकरण में दिखाया चुका है,

मूल सत्य से ज्ञान और आनंद पृथक् नहीं हैं। भगवद्गीता में जिस अक्षर ब्रह्म का उल्लेख है वह नित्य सत्य ही है। उसके नित्य और अक्षर स्व-भाव का ज्ञान अध्यात्म* कहलाता है। ब्रह्म का क्षर भाव है व्यक्त प्रकृति अथवा अनित्य सत्य। इसके ज्ञान को अधिभूत† कहते हैं।

यदि यथार्थ सत्य ही है, तो सत्य के दोनों उक्त रूप यथार्थ (Real) हैं। हाँ, भेद करने के लिये यदि एक को 'तत्त्वार्थ' और दूसरे को 'बाह्यार्थ' कहें तो गड़बड़ी की संभावना कम हो जाय।

अब आदर्श और यथार्थ के मूल अर्थों को भी समझना चाहिए। अंग्रेजी में 'आइडिया' (Idea) शब्द का दार्शनिक अर्थ होता है 'वह शाश्वत रूप में वर्तमान पूर्ण रूप' जिसके कि किसी जाति की व्यक्तियाँ अपूर्ण प्रतिरूप हैं'।‡ इसी से बने हुए शब्द 'आइडियल' (Ideal) और

---

* अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
(गीता, अ० ८, श्लो० ३)

† अधिभूतं क्षरोभावः.........
(गीता, अ० ८, श्लो० ४)

‡ Eternally existing pattern, of which

'आइडियलिज्म' (Idealism) हैं जिन्हें हिंदी में क्रमशः 'आदर्श' और 'आदर्शवाद' कहते हैं। दार्शनिक आदर्शवाद के लिये यूनानी पंडित प्लेटो तथा जर्मनी के कांत, शीलर, शीलिंग और हेगल प्रभृति विद्वान् बहुत प्रसिद्ध हैं। उनके मतों का लक्ष्य भारतीय अद्वैत मत की भाँति एक पूर्ण और अनंत आध्यात्मिक सत्य की स्थापना है। उनके अनुसार हमारा व्यक्त सत्य वास्तविक सत्य नहीं है। इस मत का विरोधी 'रियलिज्म' (Realism) वा यथार्थवाद है। यह मत व्यक्त पदार्थों वा बाह्यार्थों को ही सत्य मानता है। व्यक्त सत्य के अतिरिक्त किसी अन्य पूर्ण एवं अनंत सत्ता की कल्पना उसे सह्य नहीं है। यहीं से आदर्शवाद और यथार्थवाद का विरोध आरंभ हो जाता है। सत्य के व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों को,* क्षर भाव और

---

individual things in any class are imperfect copies... ... (Concise Oxford Dictionary, 1931.)

* सर्वभूत आदि में अव्यक्त, मध्य में व्यक्त तथा अंत में पुनः अव्यक्त होते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव...॥ (गीता, २।२८)

अन्तर स्व-भाव को, न पहचानने से ही यह विरोध उत्पन्न होता है।

आदर्शवाद का लक्ष्य सर्वगत आंतरिक पूर्णता है, और यथार्थवाद का व्यक्ति-गत और बाह्य पूर्णता। परंतु भिन्न और व्यक्त को छोड़कर अभिन्न और अव्यक्त को जानने का हमारे पास साधन ही क्या है? हम तो स्वयं व्यक्त हैं और भिन्नता ही के बीच हमारा अस्तित्व है।

'भिन्नता' और 'विरोध' के अर्थग्रहण में भ्रम न होना चाहिए। भिन्नता और द्वैत उतने ही सत्य हैं जितनी कि अभिन्नता और अद्वैत। विरोध देखना हमारे भाव या चित्तवृत्ति का गुण है। सुख-दुःख आदि द्वंद्वों का अनुभव भी जो हमें होता है वह हमारी चित्तवृत्ति की ही विशेषता है। जिन व्यक्तियों या पदार्थों से हमारा तादात्म्य नहीं है वे हमारे स्वार्थ में बाधक सिद्ध होते हैं। उनका संसर्ग हमारी चित्तवृत्ति को ऐसा बना देता है जिसे हम दुःख* कहते हैं। उनसे तादात्म्य स्थापित कर लेने पर जो पहले हमारे लिये दुःख था, वह भी सुख ही हो जाता है। परंतु तादात्म्य के अभ्याससाध्य होने के कारण किसी

---

* न्यायशास्त्र में भी अनुकूलवेदनीयता को सुख और प्रतिकूलवेदनीयता को दुःख कहा है।

दुःख से सबकी निवृत्ति एक साथ ही नहीं होती, अतः भावों अथवा चित्तवृत्तियों का द्वंद्व भी संसार में सदैव देखा जाता है। उसकी सत्यता नष्ट नहीं होती। पर इस द्वंद्व की सत्यता के कारण एकता का आदर्श भी नष्ट नहीं हो सकता, यद्यपि आदर्श में चित्तवृत्तियों का समन्वय मात्र दिखाई पड़ता है, उसमें कल्पना का संयोग रहता है और वह हमें 'यथार्थ' न प्रतीत होकर केवल संभाव्य जान पड़ता है। इसका कारण मानव-प्रकृति की वह विशेषता है जिससे वह दुःखमय द्वंद्व से ऊपर उठकर सुखमय एकता और पूर्णता की ओर पहुँचने के लिये निरंतर प्रयत्नशील रहता है।

हमने अक्षर सत्य में पूर्ण सत्, चित् और आनंद का समन्वय देखा है, और यूरप ने शाश्वत भाव (The Eternal Idea) में सत्य, शिव और सुंदर (The True, the Good and the Beautiful) का चरम आदर्श। उस अनंत के महान् आदर्श और हमारे लौकिक यथार्थ के बीच का स्वाभाविक अविरोध और शुद्ध संबंध स्पष्ट किया जा चुका। परंतु फिर भी हमारे और उसके बीच इतना अधिक अंतर रह जाता है कि हमारे इस प्रत्यक्ष संसार की सत्यता के सामने वह शुद्ध कल्पना की

ही चीज मालूम पड़ता है। तर्क और कल्पना के बल पर जिस महान् एकता का अनुमान हमारी बुद्धि कर लेती है, वह हमारे साधारण अनुभूति-क्षेत्र से परे ही रहती है। उसका मूल्य भी आसानी से हमारी समझ में नहीं आ सकता है। पका हुआ आम पीला और मीठा होता है—जिसने आम कभी नहीं खाया है उसके लिये बिना उसको देखे और चखे हुए इस श्रुत ज्ञान का मूल्य निर्धारित करने में कोरी श्रद्धा को छोड़ तर्क और बुद्धि के लिये अवकाश ही कहाँ है? इसी से तो यथार्थवादी, जिन्हें बाह्यार्थवादी या अधिभूतवादी कहना चाहिए, उसे मानने को तैयार नहीं होते। अतः हम भी दुरूह आदर्श लोक से उतरकर अपने यथार्थ लोक में ही आदर्शों की प्रतिष्ठा देखेंगे।

आजकल व्यवहार में आदर्श शब्द का प्रचार बड़ी स्वतंत्रता से हो रहा है। आदर्श समाज, आदर्श वीर, आदर्श सत्यवादी, आदर्श गुरु, आदर्श चेला, आदर्श रमणी, आदर्श सुंदरी—यहाँ तक तो खैरियत है। लेकिन जरा बाजारों की सैर कीजिए, वहाँ 'आदर्श' दूकानों में आदर्श मिष्टान्न, आदर्श चाय, आदर्श सोडावाटर और आदर्श साबुन आदि भी बहुत सस्ते दामों बिकते हुए पाइएगा। यही नहीं, कल्पना के घोड़े पर सवार, मनमोदक

से भूख मिटानेवाले निठल्लुओं की हँसी उड़ाते हुए भी कभी कभी 'आदर्शवादी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह है यथार्थवाद के प्रभुत्व की पराकाष्ठा। पर आदर्श की इस छीछालेदर से भी तद्गत सर्वोच्चता, सर्वोत्तमता, पूर्णता और अलभ्यता का ही भाव प्रकट होता है; और यह भी प्रकट होता है कि अलभ्य वस्तु सर्वसाधारण के लिये अलभ्य जान पड़ने पर भी किसी न किसी देश-काल में किसी न किसी व्यक्ति के लिये लभ्य ही होती है। लोक में प्रायः यह देखा जाता है कि एक के लिये जो कल्पना की वस्तु है, वही कभी तो अन्य काल में उसी व्यक्ति के लिये और कभी उसी काल में अन्य व्यक्ति के लिये प्राप्त और यथार्थ होती है। कल्पित घटनाएँ भी यथार्थ रूप में घटित होती देखी जाती हैं। रेल, तार, हवाईजहाज आदि विज्ञान द्वारा आविष्कृत वस्तुएँ जो आज यथार्थ हैं, वे भी तो कभी किसी की कल्पना की ही वस्तुएँ थीं! इसी से अनुमान किया जा सकता है कि कल्पना में वह वस्तु आती ही नहीं जिसका इस लोक में अस्तित्व न हो। अतः कल्पना से निर्मित होने पर भी वह आदर्श ही कैसा, जो प्राप्य, यथार्थ और अनुभाव्य न हो।

जब कल्पित आदर्श प्राप्त हो सकता है, तब प्राप्त

आदर्श को हम यथार्थ कह सकते हैं। आदर्श हमारे मन में रहता है, और जब तक वह कल्पना या विचार के रूप में रहता है तभी तक आदर्श रहता है। प्राप्त हो जाने पर वह यथार्थ हो जाता है और उसके आधार पर फिर उससे उत्कृष्ट आदर्श की कल्पना कर ली जाती है। यही क्रम चलता रहता है। पर अंत में यह प्रवृत्ति रुकती कहाँ है? कहीं तो हमारे विचारों की पूर्णता होगी! कदाचित् इसी विचारपूर्णता को ध्यान में रखकर प्राचीन यूनानी दर्शन में उस 'शाश्वत पूर्णता' का नाम 'शाश्वत विचार' या 'शाश्वत भाव' (The Eternal Idea) रक्खा गया था, जिसमें महत्कल्याण (The Great Good) का भी भाव था और जिसका स्थान आगे चलकर ईसाई मत में गॉड (God) को दे दिया गया।*

यह पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य अपने आदर्श को अधिक से अधिक पूर्ण रूप में देखना चाहता है। वस्तुतः उसके द्वारा अपनाए गए आदर्श में उसकी दृष्टि से

* In the middle ages the Christian God took the place of the Chief Good or Idea—Aesthetic, Historical survey, P. 260.

कोई न्यूनता नहीं होती। ऐसे आदर्श को निश्चित करने के लिये या तो उसे यथार्थ में से चुनाव करना पड़ता है अथवा कल्पना द्वारा उसका निर्माण। इस प्रकार आदर्श में पूर्णता के साथ साथ चुनाव (Selection) का भाव भी रहता है। यथार्थ लोक की वस्तुओं में जो भिन्नता अथवा अपूर्णता रहती है उसे सहसा हमारा मन स्वीकार नहीं करता। यह सत्य है कि पूर्णता का भाव हमारे मन में ही विद्यमान रहता है, चाहे वह आत्मा से अभिन्न स्वतःसंभवी हो अथवा लोक में अनुभवों द्वारा अर्जित। प्रकृति के क्षेत्र की भिन्न भिन्न वस्तुओं में से हमारे अनुकूल जिसमें अधिक पूर्णता दिखाई पड़ती है उसी को हम चुन लेते हैं। जिसको वह वस्तु प्राप्त नहीं होती, पर जो उसे अपने विचारों के अनुकूल समझता है, उसके लिये वह आदर्श होती है। व्यक्ति और समाज दोनों के विषय में यही बात सत्य है। अपने समय के हिंदू राजाओं में अपूर्णता का अनुभव करके वर्तमान हिंदू समाज इस समय अप्राप्त और केवल मानस में स्थित ऐतिहासिक हिंदू राजाओं में से महाराणा प्रताप अथवा छत्रपति शिवाजी को चुनकर उन्हें आदर्श कहता है। परंतु अतीत और वर्तमान के क्षेत्र से चुनी हुई वस्तुएँ मानस

के अनुकूल सर्वथा पूर्ण नहीं होतीं । इसलिये हम कल्पित आदर्शों की भी रचना किया करते हैं। यद्यपि डेढ़-दो हजार वर्ष पूर्व से लेकर आज तक के व्यक्तियों में से चुनकर हम महात्मा गांधी को देशभक्ति और मानवता का आदर्श कहते हैं, तथापि क्या हममें से प्रत्येक अपने मन में यह अनुभव नहीं करता कि इस समय कोई ऐसा दिव्य पुरुष होता जो हमारी और विश्व की सारी समस्याओं को एक साथ ही सुलझा देता, अथवा महात्मा गांधी में ही अमुक अमुक गुण और रहे होते तो कितना अच्छा होता ? और ऐसा माई का लाल कभी न कभी साधना से अथवा संयोग से उत्पन्न या प्रकट हो सकता है, क्या इसे बुद्धि सर्वथा अस्वीकार करती है ? हमारी संपर्ण अभिलाषाओं का केंद्र वही मानस व्यक्ति हमारा कल्पित आदर्श है। हमारी कल्पना एक ऐसे आदर्श को देखना चाहती है जिसमें, हमने अपने संसार में जिस पूर्णता का अनुभव किया है उसकी अपेक्षा, अधिक पूर्णता हो और जिसमें हमारी संपूर्ण चित्तवृत्तियों और आकांक्षाओं को शांति और विश्राम मिले ।

भारत का इतिहास हमारे सामने बालकों में से ध्रुव, प्रह्लाद और अभिमन्यु; स्त्रियों में से सीता, सावित्री और

पार्वती; कवियों में से वाल्मीकि, व्यास और तुलसी; राजाओं में से राम, कृष्ण और शिवा जी तथा मानवता के प्रेमियों में से महात्मा बुद्ध ऐसे व्यक्तियों के चुने हुए आदर्श उपस्थित करता है। न्यूनाधिक मात्रा में ये सब हमारे अनुकूल होने के कारण हमारी श्रद्धा के पात्र हैं। आजकल विदेशीय सभ्यताओं के संयोग से और भी कितने महापुरुषों के आदर्श हमारे सामने आते हैं। उनमें भी रह-रहकर हमारी भावनाएँ थोड़ा-बहुत विश्राम पाती हैं। परंतु हमारे ज्ञात विश्व का विस्तार ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है, हमारे सामने नए नए प्रश्न और नई नई समस्याएँ आती जाती हैं। इस प्रकार संपूर्ण विश्व के संबंध से मानव-मानस में जितने भाव उठते हैं उन सबको जिसके द्वारा अधिक से अधिक विश्राम मिले, उन सबका जिसमें अधिक से अधिक सामंजस्य हो, वही हमारा सर्वोच्च आदर्श हो सकता है। उनका पूर्ण सामंजस्य तो चरम पूर्णता ही है।

यदि इतिहास और काव्यों द्वारा उपस्थित किए गए आदर्शों में से चुनने की आवश्यकता हो, तो हमें भारत से बाहर नहीं जाना पड़ेगा। भारत सदा से आदर्शवादी प्रसिद्ध है और उसका अंतिम आदर्श सदा से चरम

पूर्णता रहा है। यहाँ व्यक्तिगत सत्ता का विश्वसत्ता से— केवल मानवता (humanity) से नहीं—पूर्ण तादात्म्य स्थापित करने के उद्देश्य से जिस वर्णाश्रमसमाज की नींव डाली गई थी, उसके इतिहास और सिद्धांतों का अनुशीलन यह प्रकट करता है कि चरम आदर्श की प्राप्ति हमारे लौकिक अथवा सामाजिक जीवन में असंभव नहीं है, प्रत्युत हमारा लौकिक शरीर (शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्—कालिदास) तथा लौकिक जीवन ही उसको प्राप्त करने का सुगम साधन है। जो आदर्शवाद हमारी कर्महीनता का कारण हुआ वह हमारे लौकिक जीवन का विरोधी था, इसी से सफल नहीं हो सका। उसने कर्मसंन्यास (कर्म के त्याग) को काष्ठाप्राप्ति का साधन बताया था। फिर तो उसका ऐसा दुरुपयोग हुआ कि त्याग में ही भोग का सीधा मार्ग खुल गया और संसार की कठिनाइयों से बचने के लिये सन्यास एक आकर्षण बन गया। ऐसे ही त्यागियों को लक्ष्य कर गोस्वामी तुलसीदास ने कहा था—'नारि मुई गृह संपति नासी। मूँड़ मुड़ाइ भए संन्यासी ॥'

यदि मानव-सभ्यता का क्रमिक विकास होता है, तो हमारे जीवन में आदर्शों की भी ऊँची-नीची श्रेणियाँ बन

सकती हैं। आदर्श व्यक्तित्व को ऊँचे उठाकर ही समाज को ऊपर उठाता है। समाज में तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति भी रहते हैं और उनके जीवन का मूल्य समाज के लिये किसी से कम नहीं होता। उनकी भी रक्षा और उन्नति हो इसी लिये समाज बनता ही है। उसका मूल मंत्र 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' नहीं है। जब समाज का उच्च आदर्शवाद तुच्छ सांसारिक जीवन की अवहेलना करता है तब यथार्थ-वाद उसका विरोध करता है। जिस आदर्श को सभी व्यक्तियों के लिये प्राप्त करने का उपाय न हो उसका विरोध स्वाभाविक है। इसलिये हमारे तुच्छ से तुच्छ जीवन की यथार्थता से आदर्श का निकट संबंध होना चाहिए। उसके चुनाव वा निर्माण में हमारे प्रस्तुत अभावों और आकां-क्षाओं का ध्यान रखा जाना चाहिए।

दो बातें आदर्श के संबंध में और हैं। यदि किसी देश या काल की सभ्यता की माप उसके उच्चतम ध्येयों से की जानी चाहिए, उसके निकृष्ट विचारों से नहीं, तो उसके आदर्शों से हम सहज में ही उसका अनुमान कर सकते हैं। इस विचार से आदर्श शब्द बहुत ही सार्थक है। उसमें मानव-सभ्यता का स्पष्ट प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है। दूसरी बात यह है कि हमारे जीवन में जितना ही

अधिक संघर्ष रहता है, हमारे भाव और विचार उतने ही अस्तव्यस्त रहते हैं। तब हमारे आदर्शों में सभ्यता का प्रतिबिंब भी अस्थिर रहता है, उसका कोई स्पष्ट रूप लक्षित नहीं होता। ऐसे समय में आदर्श की खोज में ही चित्त व्याकुल रहता है। पुराने आदर्श काम नहीं देते और नए की स्थापना में कुछ देर लगती है। नदियों का पानी बरसात में निरंतर आघात के कारण अत्यंत चंचल और गँदला रहता है। वर्षा की गति थमने पर ही उसे स्थिरता और निर्मलता प्राप्त होती है। वर्तमान युग में मानव-जीवन का प्रवाह भी अत्यंत संघर्ष के कारण क्षुब्ध और आविल हो रहा है।

चौथा प्रकरण

काव्य में आदर्श और यथार्थ (१)

काव्य में आदर्श और यथार्थ का स्थान देखने के पूर्व अच्छा होता यदि काव्य के संबंध में हमारी एक सर्व-मान्य और निश्चित धारणा होती। परंतु पहले ही से साहित्यशास्त्रियों के बढ़ते हुए विवाद में पड़कर हम प्रायः काव्य के अंगोपांगों की ही जर्राही में लग जाते हैं, उसके प्रकृत और पूर्ण स्वरूप का दर्शन नहीं कर पाते। अतः विद्वान् सहृदयों तथा सर्वसाधारण के सामान्य अनुभवों द्वारा अनुमोदित काव्य के असंदिग्ध रूप को ही हमें अपने मतों का आधार मानना चाहिए।

हमारे यहाँ रामायण और महाभारत इतिहास, धर्म-ग्रंथ आदि और जो कुछ भी हों, परंतु उनके काव्य होने

में तो कदाचित् किसी को संदेह नहीं है। इन काव्यों के अध्ययन और पठन-पाठन से लाखों-करोड़ों को आनंद की प्राप्ति हुई और होती है। उन लाखों-करोड़ों में केवल साधारण कोटि के सहृदय लोग ही नहीं हैं, अपितु उनमें ऐसे विद्वानों की भी गणना है जिनके 'परितोष' के बिना अत्यंत निपुण कवियों को भी अपनी निपुणता में 'प्रत्यय' नहीं होता।* इन काव्यों से जो प्रत्यक्ष वा परोक्ष आनंद लोगों को मिले हैं वे केवल यश और अर्थ की प्राप्ति, व्यवहारज्ञान अथवा अशिव-निवारण के रूप में ही नहीं, जिनको कि क्षुद्र कवि काव्य का एक मात्र ध्येय मान बैठते हैं, न इनसे केवल 'कान्तासम्मित' उपदेश ही मिलता है, अपितु इनसे 'सद्यःपरनिर्वृति' अर्थात् तत्काल उस उच्च कोटि के आनंद की भी प्राप्ति होती है† जिसे काव्य की विशिष्ट और निजी संपत्ति समझना चाहिए। अवश्य

---

* आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥
—अभिज्ञान शाकुंतल।

† काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥
—काव्यप्रकाश।

कितने ही ज्ञान-साधना-विहीन स्वल्प बुद्धिवालों को 'भाव-योग' के द्वारा सुगमता से उनकी प्रवृत्ति-निवृत्त्यात्मक बुद्धि को संशयरहित और श्रद्धायुक्त करके इन महाकाव्यों ने 'चतुर्वर्गफलप्राप्ति'* भी कराई होगी। इस प्रकार काव्य के जो जो उद्देश्य बताए गए हैं उन सबका सिद्धि इनसे हो जाती है। इसी लिये इनकी इतनी लोकप्रियता है। अब सद्यःपरनिर्वृति के साथ साथ इनसे अशिवनिवारणादि भी होता है इसलिये ये काव्यकोटि से गिर जाते हैं, ऐसा कहने का साहस तो उन्हीं समर्थ जनों को हो सकता है जो सहस्रों वर्ष से चले आते हुए लोकमत के पहाड़ को अपने कलावाद की एक ही फूँक से उड़ा देना चाहते हैं।

अब देखना यह है कि इन महाकाव्यों में ऐसी कौन सी बात है जिससे ये असंख्य जनों को आनंदित कर इतना महत्त्व प्राप्त कर रहे हैं? क्या सर्गबद्ध छंद-प्रबंध अथवा कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं का विशेष प्रकार से

---

* चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव......॥ (साहित्यदर्पण, १।२)
धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥
(भामह, उक्त की व्याख्या में उद्धृत)

वर्णन ही इसका कारण है ? या इनमें रस, आनंद अथवा सौंदर्य नाम की कोई ऐसी विशिष्ट वस्तु है, जिसकी हमें अनुभूति होती है ? अथवा प्राप्त होनेवाला आनंद हमारे मन की भावना मात्र है ? इस प्रकार के प्रश्न एक एक करके काव्यसमीक्षकों के मन में उठते हैं, जिनका वे विविध प्रकार से समाधान करते हैं ।

पहले कहा जा चुका है कि भिन्न भिन्न वस्तुओं के साक्षात्कार से हमें भिन्न भिन्न प्रकार के अनुभव होते हैं, चाहे वह साक्षात्कार चाक्षुष हो, श्रावण हो अथवा केवल कल्पना वा भावनागत । उन अनुभवों में से कुछ तो हमारे अनुकूल होते हैं और कुछ प्रतिकूल, कुछ मधुर होते हैं और कुछ कटु। जिन पदार्थों अथवा एक ही पदार्थ के जिन पक्षों से हमें कटु अनुभव होते हैं, नित्य उनके संसर्ग में रहने के अभ्यास से हम उनकी तद्रूपता वा उनसे तादात्म्य प्राप्त कर लेते हैं; और वे अपनी कटुता छोड़कर हमारे आनंद के ही साधन बन जाते हैं। जहाँ हमारे मधुर और कटु अनुभवों का सामंजस्य रहता है, वहाँ हमें एक प्रकार की शांति, संतोष वा आनंद मिलता है। यही सामंजस्य उपस्थित करना हमारी समझ से कला (ललित कला जिसके पाँच भेद वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत तथा

काव्य प्रसिद्ध हैं) का प्रधान उद्देश्य है। यदि काव्य सर्वश्रेष्ठ कला है, तो उसमें यह सामंजस्य सबसे अधिक मात्रा में रहना चाहिए।

जगत् की भिन्नता में हमें जो विरोध दिखाई देता है, वह विरोधी अनुभवों या भावों के सामंजस्य से मिट जाता है; भिन्नता में विरोध के स्थान पर एकता और पूर्णता के दर्शन होने लगते हैं। प्रकृति के द्वारा उपस्थित किए हुए सुंदर पदार्थों में यह एकता सुषमा (Symmetry or harmony) के रूप में पहले ही से विद्यमान रहती है। इस सुषमा को ही लक्ष्य करके पाश्चात्य विद्वानों ने सौंदर्य को 'भिन्नता में एकता' (Unity in variety) कहा है। जिस पदार्थ में भिन्नता और एकता का सामंजस्य हमें स्पष्ट लक्षित नहीं होता उसे हम असुंदर कहते हैं। परंतु हमारी भावना या कल्पना सामान्यतः असुंदर लगनेवाली वस्तु में भी सामंजस्य उत्पन्न करके उसे सुंदर रूप में देख लेती है। बहुत सी सुंदर और असुंदर वस्तुओं को एक मेल में रखकर वह असुंदर वस्तुओं की असुंदरता का लोप ही कर देती है। माली की फुलवारी में इसी कारण हमें कठोर कँटीली झाड़ियाँ भी रंगबिरंगे फूलों से लदी हुई हरी-भरी लताओं से कम सुंदर नहीं लगतीं। यों केवल

सुंदर फूलों का ढेर लगाकर भी सौंदर्य का आतिशय्य दिखाया जा सकता है। परंतु उसमें कला की *पूर्णता* का अभाव रहता है। मिठाइयों के ढेर से षट्रस के अभाव की पूर्ति कैसे हो सकती है?

सुंदर फूल प्राकृतिक कला है, और माली की वाटिका मानवीय कला। इसी प्रकार चित्र-काव्यादि भी मानवीय कलाएँ हैं। अन्य कलाओं मे काव्यकला में विशेषता यह है कि उसके साधन केवल शब्द होते हैं। रंगादि साधनों द्वारा पृथक्-पृथक् वस्तुओं या घटनाओं के चित्र प्रस्तुत करके हमारे एक या कुछ भावों को जागरित किया जा सकता है। किंतु कुछ दूर तक चलती हुई घटनाओं वा चरित्रों के वर्णन द्वारा भिन्न-भिन्न अनेक भावों को टिकने का स्थान देना काव्यकला के ही सामर्थ्य की बात है।*

---

* कहा जा सकता है कि यह सामर्थ्य तो प्रबंध-काव्य में ही होता है, मुक्तक में नहीं, और दूसरी ओर क्रमबद्ध चित्रावली में प्रबंध-काव्य की ही भाँति, मुक्तक काव्य से अधिक, रस-व्यंजकता होती है। यह सत्य है। फिर भी रंगों और रेखाओं की अपेक्षा शब्दों में अर्थवाहकता जितनी अधिक हो सकती है, चित्र की अपेक्षा उतनी अधिक रस-व्यंजकता तो काव्य में होगी ही।

पर भावों के विषयों को उपस्थित करके ही कला अपने कर्तव्य से मुक्त नहीं हो सकती। भावों को विश्राम देने में ही उसकी पूर्णता है। महाकाव्य हमारे अधिक से अधिक भावों और अनुभवों को व्यवस्थित करके हमें शांति दे सकता है। रामायण और महाभारत इसी लिये महाकाव्य हैं, और इसी लिये वे इतने लोगों को इतना आनंद दे सकते हैं।

रामायण और महाभारत में दो ऐसे युगश्रेष्ठ महापुरुषों का चरित्र है जो भिन्नता (भेद) और अनेकता से भरे इस जगत् से दूर न रहकर उसी में उत्पन्न होते और जीवन भर उसी में सने रहते हैं। उनके जीवन का कोई कोना इस लोक से असंबद्ध नहीं है। अपने निरंतर कर्मरत जीवन में वे सुंदर और असुंदर, उच्च और नीच, सुख और दुःख, आनंद और शोक, सबकी अनेकप्रकारता का अनुभव करते हैं। परंतु उनका चरित्र इन सबका ऐसा सुंदर मेल है, जिसमें हम प्रतिकूल को भी सदा अनुकूल ही पाते हैं। उनका चरित्र स्वयं भिन्नता में एकता है।

दोनों चरित्रनायक अपने अपने युग की पूर्णता के जीवित चित्र हैं। यदि उनके ऐतिहासिक चरित्र में कुछ अपूर्णता रह गई थी तो उनके विधायक महाकवियों ने

अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा उसे पूर्ण कर लिया होगा। स्वर्ग, नरक, देव, दानव आदि की अलौकिक और अमानवीय सृष्टि, जो असंभव जान पड़ती है, इसका प्रमाण है। परंतु फिर भी जिस समय इन स्वर्ग-नरक-देव-दानवादि की सृष्टि कल्पित हुई, उस समय के लोगों के लिये वह सत्य और विश्वसनीय ही थी, सहस्रों वर्ष तक वह सत्य और विश्वसनीय बनी रही और अब भी बहुत से लोगों के लिये है। इसके अतिरिक्त कवि की जिस विधायक कल्पना ने यह अलौकिक और अमानवीय सृष्टि प्रस्तुत की, उसका आधार लौकिक और अनुभूत सत्य ही था। उसने केवल उसे अत्यंत पूर्ण रूप में देखने का प्रयत्न किया था। न स्वर्ग में और न नरक ही में कोई ऐसी बात है जो हमारे लोक से बाहर की हो। देव और दानवों के भी रूप-गुण का सर्जन मानव अथवा जगत् के अन्य प्राणियों के ही अवयवों से हुआ है। केवल कवि के चर्मचक्षुओं ने जिन जिन बातों को इस धरती पर अपूर्ण और विकीर्ण रूप में देखा था, उन्हें उसकी कल्पना ने—उसके दिव्य नेत्रों ने—पूर्ण रूप में एकत्र करके देख लिया।

यहाँ पिछले प्रकरण से हमें आदर्श के संबंध में कुछ बातें याद आती हैं—(१) आदर्श में पूर्णता का भाव

विद्यमान रहता है; (२) पूर्णता देखने की स्वाभाविक मनोवृत्ति ही आदर्श को स्वीकृत करने अथवा कल्पना द्वारा उसका निर्माण करने का हेतु होती है; (३) आदर्श का निर्माण यथार्थ से होता है; (४) आदर्श सभ्यता के विकास का दर्पण होता है, और विकास की भिन्न भिन्न श्रेणियों वा अवस्थाओं के अनुसार आदर्श के भिन्न भिन्न रूप हो सकते हैं; (५) जब कोई आदर्श वर्तमान और लौकिक यथार्थ के निकट नहीं रहता अर्थात् जब उसमें वर्तमान अनुभूतियाँ और आकांक्षाएँ आश्रय नहीं पातीं, तो उसे छोड़कर आवश्यकतानुसार दूसरे आदर्श की सृष्टि होती है।

इन बातों को ध्यान में रखकर रामायण और महाभारत को देखें, तो समग्र रूप में प्रत्येक को हम आदर्श महाकाव्य पाते हैं। दोनों में दो आदर्श महापुरुषों के चरित्र हैं। दोनों में अपने अपने युग के मानवजीवन की पूर्णता है—वह पूर्णता जीवन के यथार्थ और काल्पनिक दोनों पक्षों की पूर्णता है। दोनों आदर्शों का चित्रण यथार्थ के ही आधार पर हुआ है। जहाँ कल्पना अनुभूति से ऊपर उठकर अलौकिक और असाधारण रूपविधान में तत्पर दिखाई देती है, वहाँ भी उसका आधार अनुभूत सत्य

ही है। अलौकिक रूपविधान भी एक तो लौकिक जीवन से बिल्कुल मिले हुए हैं, और दूसरे उनके अवयव लौकिक और यथार्थ ही हैं; क्योंकि कल्पना में अनुभव के बाहर की वस्तु तो आ नहीं सकती। दोनों आदर्शों में हम उनके युग की सभ्यता का स्पष्ट रूप देखते हैं इसमें भी कोई संदेह नहीं। रह गई आदर्श के भिन्न-भिन्न रूपों और नए आदर्शों की बात। उसके लिये भी दूर नहीं जाना पड़ेगा। यदि रामायण में ही मानव-सभ्यता का संपूर्ण विकास हो चुका होता, तो केवल उसी एक आदर्श महाकाव्य की रचना होकर रह जाती, फिर दूसरे महाकाव्य की आवश्यकता ही न पड़ती। परंतु परिस्थितियों के महाभारत ने महाभारत को भी जन्म दिया। उसके चरित्रनायक दूसरे महापुरुष का संसार कुछ और जटिल हो गया था। उसके समय में मानवीय आकांक्षाएँ और आवश्यकताएँ कुछ और विषम हो गई थीं। इसलिये कृष्ण के जीवन में राम के जीवन से कुछ अधिक जटिलता, फलतः पूर्णता दिखाई पड़ी। राम को बारह और कृष्ण को सोलह कलाओं का अवतार और चाहे जिस अर्थ में कहा गया हो, पर उक्त अर्थ में तो वह पूर्णतः सार्थक है।

रामायण और महाभारत की भाँति प्रत्येक युग में महा-

काव्य लिखे गए और लिखे जा सकते हैं। उन सबमें सर्वोत्कृष्ट वही महाकाव्य हो सकता है जिसमें अधिक से अधिक, व्यापक से व्यापक, और जटिल से जटिल मानव-जीवन की समस्याएँ अधिक से अधिक सुलझे हुए रूप में रखी गई हों। यदि हमारे युग में कोई ऐसा महाकाव्य नहीं है, जिसकी आवश्यकता हम अनुभव कर रहे हैं, तो उसका कारण यह है कि न तो अभी कोई ऐसा चक्रवर्ती महापुरुष ही उत्पन्न हुआ जो हमारे संसार की सारी समस्याओं को एक साथ सुलझा सके, और न उसे उत्पन्न करनेवाला कोई महाकवि ही।

यहाँ तक तो हुई महाकाव्यों की बात। परंतु महाकाव्य तो इनेगिने ही होते हैं। काव्य का अधिकतर परिमाण तो अन्य छोटे-मोटे खंड-प्रबंधों और मुक्तक-गीतादि के रूप में ही दिखाई पड़ता है। उन सबके विषय में क्या कहना चाहिए?

महाकाव्य का संबंध एक संपूर्ण मानवजीवन से होता है। इसलिये काव्य का संपूर्ण स्वरूप हमारी समझ में महाकाव्य में ही गोचर हो सकता है। अन्य काव्यों और महाकाव्यमें अंगांगि-संबंध मानना अनुचित न होगा। जितने भी प्रकार के काव्य हों, सब महाकाव्य के अंगीभूत

हो सकते हैं—वैसे ही जैसे हमारी समस्त अनुभूतियाँ हमारे जीवन के अंतर्गत ही होती हैं। यहाँ एक शब्द नाटक के विषय में कहना है। काव्य के जो दो भेद दृश्य और श्रव्य माने गए हैं, उनमें 'काव्येषु नाटकं श्रेष्ठं' के अनुसार काव्यकला की पूर्णता नाटक में ही मानी जानी चाहिए। रस की दृष्टि से तो नाटक को सर्वश्रेष्ठ 'कला' मानना ठीक हो सकता है, परंतु नृत्य, अभिनय, संगीतादि अन्य कलाओं के आश्रय के बिना, पुस्तक के रूप में तो वह एक अस्तव्यस्त प्रकार के प्रबंधविशेष से अधिक और कुछ नहीं रह जाता। 'दृश्य काव्य' नाटक में दृश्य की प्रधानता अवश्य होती है, परंतु वस्तुतः न वह शुद्ध दृश्य है—क्योंकि उसका एक मुख्य अंग कथोपकथन या संवाद श्रव्य ही होता है—और न शुद्ध श्रव्य। उसकी परिपूर्णता दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार की कलाओं के मिश्र रूप में होती है। अतः कला की पूर्णता के विचार से नाटक को एक पृथक् कला (जो कई कलाओं का मिश्र रूप है) मानना अनुचित नहीं जान पड़ता। सर्वश्रेष्ठ कला के रूप में उसका अस्तित्व शुद्ध काव्य (जो केवल शब्दार्थ-शरीरी है) से स्वतंत्र माना जा सकता है।

अब खंड काव्यों और मुक्तकादिकों का रूप और

महत्त्व स्पष्ट हो जाना चाहिए। खंड काव्य में जीवन के एक अंश वा एक घटना का वर्णन होता है। उसे महाकाव्य का एक खंड कह सकते हैं। उसमें अनेक प्रकार के भावों के संघर्ष और आश्रय के लिये उतना स्थान नहीं रहता जितना महाकाव्य में। गीत काव्यों और मुक्तकों का क्षेत्र तो और भी अधिक संकुचित होता है। उनमें प्रायः पृथक्-पृथक् एक ही एक भाव वा वस्तु का वर्णन भी रहता है। महाकाव्य में वे सब यथास्थान प्रसंग से रखे जाते हैं। समुद्र, चंद्रोदय, मृगया, युद्ध आदि की भाँति न जाने कितनी और वस्तुएँ और घटनाएँ उसमें खप जा सकती हैं। जब हम किसी एक छंद वा केवल एक पद को काव्य कहते हैं, तब उसका अर्थ उसी प्रकार समझना चाहिए जैसे जब हम मोहन के सिर पर हाथ रखकर या उसका हाथ पकड़कर कहते हैं कि यह मोहन है। परंतु मोहन का लक्षण देते समय, चाहे हम स्वरूप लक्षण दें या तटस्थ, केवल उसके सिर या हाथ को लक्ष्य करने से काम नहीं चल सकता। उसके भिन्न भिन्न सुंदर सुडौल अंगों का लक्षण देने से तो मोहन के बीसों लक्षण बन जायँगे, पर उनमें किसी से मोहन के प्रकृत रूप का बोध नहीं होगा। काव्य के अधिकांश लक्षण इसी अव्याप्ति के रोग में फँसे हुए हैं। वे सभी

लक्षण सत्य हैं पर सभी अपूर्ण हैं, काव्य के पूर्ण स्वरूप का बोध उनसे नहीं हो सकता।

परंतु स्फुट काव्य का अपना अलग महत्त्व भी है। उसका कारण यह है कि हमारे जीवन में जो अनुभव होते हैं, अथवा हमारे मन में जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें अलग अलग हम साधारण दृष्टि से प्रायः जीवन से असंबद्ध और स्वतंत्र रूप में ही देखते हैं—उसी प्रकार जैसे किसी पुष्प या पल्लव को अलग हाथ में लेकर उसके वृक्ष से हम उसका संबंध नहीं देखते, स्वतंत्र रूप में ही उसके सौंदर्य का अनुभव करते हैं, यद्यपि उसकी सत्ता वस्तुतः उसके वृक्ष के ही संबंध से है। उन भावों और अनुभवों की पृथक् पृथक् स्वतंत्र रूप में अभिव्यक्ति ही स्फुट काव्य है। अनुभवों की इसी व्यावहारिक—तात्त्विक नहीं—स्वतंत्रता को देखकर कुछ लोगों ने कुछ अनुभवों को जीवन के अन्य अनुभवों से बिलकुल स्वतंत्र मान लिया। बिना अपने हानि-लाभ या भले-बुरे का विचार किए, किसी सुंदर पुष्प को देखते ही हमें जो अनुभूति होती है, वह ऐसे लोगों के अनुसार एक विलक्षण प्रकार की अनुभूति है जिसे सौंदर्यानुभूति कहते हैं। परंतु गिने हुए स्थायी और संचारी भाव और अन्य समस्त अनुभव भी हमारे जीवन से, उसकी लाभ-हानि से,

किसी न किसी प्रकार अवश्य संबद्ध हैं। वे सब रति और विरति, इन दो भागों में बाँटे जा सकते हैं; और रति और विरति का संबंध हमारे जीवन के अस्तित्व और लोप से है। अतएव अलग अलग किसी वस्तु का वर्णन वा किसी अनुभव की अभिव्यक्ति करनेवाले स्फुट काव्य भी, चाहे वे एक छंद में हों या केवल एक पद में, हमारे जीवन से, अथवा हमारे जीवन से अभिन्न काव्य के प्रकृत स्वरूप से स्वभावतः पृथक् नहीं हैं। उनका पृथक् अस्तित्व व्याव-हारिक है।

खंड काव्य में जीवन के एक अंग की पूर्णता होती है और मुक्तक में एक भाव की। यह पूर्णता कवि का भावना के अनुरूप होती है और वहीं तक पाठक या श्रोता के हृदय को मुग्ध करती है जहाँ तक दोनों अर्थात् कवि और पाठक या श्रोता की पूर्णता की भावना में अनुरूपता होती है। प्रत्येक मनुष्य की दृष्टि से साधारण न्याय के अनुसार उसमें औचित्य और सत्यता पाई ही जाय यह आवश्यक नहीं है। खंड काव्य में तो प्रबंध होने के कारण फिर भी अनेक भावों का आश्रय होता है और उसमें उनका सामंजस्य अपेक्षित है। परंतु स्फुट काव्य में भावों के सामंजस्य का उतना प्रश्न नहीं रहता। यहाँ तो जैसा हमें

किसी पृथक् वस्तु का अनुभव हुआ उसी को अभिव्यक्त करना रहता है। यहाँ सीधे सत्य और मिथ्या में मुठभेड़ होने का डर रहता है। साधारणतः किसी वस्तु को लोग जिस रूप में देखते हैं वही सत्य समझा जाता है। कवि की भावना उसे उससे कुछ भिन्न रूप में देखना चाहती है और उसी भिन्न रूप में अभिव्यक्त भी करना चाहती है। मन की जिस क्रिया के अनुसार वस्तुओं का साधारण रूप बदल कर कुछ विशिष्ट हो जाता है उसे मानसीकरण अथवा आदर्शीकरण (The idealizing process of mind or mental rendering) कहते हैं। हम उसे यहाँ भावना ही कहेंगे।

समुद्र को दावात, पेड़ों को कलम, सूर्य-चंद्र को मुकुट, आँसुओं को मोती और रेलगाड़ी को सौत ❀ बनानेवाली

❀ एक अवधी ग्रामगीत (कहरवा) में एक वियोगिनी की उसके प्रियतम को उससे पृथक् करके परदेस भगा ले जानेवाली रेलगाड़ी के प्रति कैसी मार्मिक उक्ति है—

पुरुबु से आइ रेलिया पछिउं से आइ जहजिया,
पिया के लाद लेइ गइ हो।
रेलिया होइ गइ मोरी सवतिया, पिया के लादि लेइ गइ हो।।

कवि की भावना ही है। किसी साधारण उपवन को नंदन-कानन बनानेवाली भी कवि की भावना ही है। अब यहाँ यदि हम शुष्क पांडित्य के गर्व से उन्मत्त होकर सत्य के अधिकार के लिये लड़ने लगें और कहें कि 'वाह! रेलगाड़ी क्या कोई स्त्री है?' * तब तो सहृदयता और काव्य को कहीं मनुष्यों की बस्ती से दूर छप्पर डालना पड़ेगा।

सोचने की बात है कि कवि बेचारे ने रेलगाड़ी के यथार्थ रूप पर तो कोई आघात किया नहीं। सौत के जगत्प्रसिद्ध गुण-स्वभाव में भी उसने कुछ परिवर्तन नहीं किया। केवल दोनों को एकत्र करके रेलगाड़ी को पहले से कुछ अधिक पूर्णता प्रदान कर दी—उसे निर्जीव से सजीव बनाकर उसमें पहले से अधिक आकर्षण-शक्ति भर दी; क्या बुरा किया? असुंदर को सुंदर और सुंदर को अधिक सुंदर बनाना तो मानव स्वभाव है। उसका विरोध करके कोई शक्ति कैसे सफल हो सकती है? हाँ, यथार्थ चरित्रों,

---

* एक विद्वान् ने कई वर्ष पूर्व एक प्रसिद्ध दैनिक पत्र में इस पुस्तक की विस्तृत आलोचना करते हुए काव्य-सत्य पर सचमुच इसी प्रकार के आक्षेप किए थे। यतः इसी पुस्तक में अगले अध्याय में 'काव्य-सत्य' पर विस्तृत विचार किया जा चुका है, अतएव उनका पृथक् समाधान अनावश्यक है।

घटनाओं अथवा वस्तुओं के रूपों को भावानुकूल बनाने का कवि को कहाँ तक अधिकार है, यह प्रश्न दूसरा है। इसका निर्णय अपने अपने काल के लिये प्रत्येक युग में सहृदय विद्वानों की रुचि ही कर सकती है।

पाचवाँ प्रकरण

काव्य में आदर्श और यथार्थ (२)

साधारण दृष्टि से तो हम काव्य के उद्देश में आदर्श और यथार्थ का अधिकार और परस्पर संबंध देख चुके; परंतु काव्य के विषय में समीक्षाचार्यों के जो सिद्धांत हैं उनमें इनका क्या स्थान है, यह भी जानना आवश्यक है। काव्य के मूल तत्त्व के संबंध में जैसे अन्यत्र वैसे हमारे यहाँ भी कई एक मत प्रकट किए गए हैं। जैसे वक्रोक्तिकार का 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्', वामन का 'रीतिरात्मा काव्यस्य' और आनंदवर्धन का 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'। परंतु आचार्य मम्मट, महापात्र विश्वनाथ तथा पंडितराज जगन्नाथ आदि धुरंधरों ने रस को ही काव्य का आत्मा

माना है और यही अब तक सर्वमान्य है। अग्निपुराण की भी यही उक्ति है कि 'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्'। अर्थात् वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता होने पर भी काव्य का आत्मा रस ही है।

काव्यार्थों के अनुसंधान से जो अनुभूति होती है उसे कहते हैं रस। रस की उपलब्धि कैसे होती है, इसके संबंध में भरत मुनि का प्रसिद्ध सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' (अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है) ही समीक्षाचार्यों का एकमात्र आधार है। भरत मुनि नाट्याचार्य थे। उन्होंने नाटक की दृष्टि से ही रस का निरूपण किया था। रस का आस्वादन पूर्ण रूप से नाटक में ही होता है। परंतु नाटक में मंच पर जो कुछ प्रदर्शित किया जाता है, प्रबंध काव्य में सबके वर्णन का यथेष्ट अवकाश रहता है। अतः उसमें भी विधिपूर्वक रसास्वादन हो सकता है। स्फुट छंदों में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के लिये काफी जगह नहीं रहती। इनमें से जो छूट गए हों उनका ऊपर से आरोप कर किसी तरह रस्म पूरी करना दूसरी बात है। परंतु किसी छंद में किसी हल्के से हल्के भाव का वर्णन हो उससे भी आनंद होता ही है,

इसी से रसाभास, भाव और भावाभास को भी रस के अंतर्गत ले लिया गया है।

रस को चिन्मय (ज्ञानस्वरूप), वेद्यांतरस्पर्शशून्य (जिसके आस्वादनकाल में अन्य किसी प्रकार के ज्ञान का स्पर्श भी न हो), ब्रह्मानंदसहोदर तथा अलौकिक आदि कहा गया है।* इन शब्दों का आकार ही देखकर जैसे धीरज छूट जाता है और यह धारणा सी बँध जाती है कि हम जैसे साधारण जनों को रस के विषय में बोलने का कोई अधिकार नहीं, विशेषतः जब कोई विद्वान् रस का स्वरूप वर्णन करनेवाले इन शब्दों की व्याख्या इस रूप में करने लगता है कि इनका अर्थ गहन से गहनतर होता जाता है। परंतु वास्तव में इन शब्दों से घबराने की कोई आवश्यकता नहीं। रस आस्वादरूप होता है। काव्यानुशीलन के फलस्वरूप जो आस्वाद मिलता है, सुखानुभूति होती है, उससे भिन्न कोई वस्तु वह नहीं है।

---

* यथा—

सत्त्वोद्रेकादखंड-स्वप्रकाशानंद-चिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मानंदसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः......।

—साहित्यदर्पण, ३।२-३, ७, १३ आदि।

जो अनुभूतियाँ इस दशा को पहुँच जायँ कि हमें तन्मय कर दें, जिससे हमें उतने समय के लिये किसी अन्य बात का ज्ञान न रह जाय, वे सभी रस हैं। काव्यरस यदि इसलिये अलौकिक है कि वह अन्य सभी रसों से विलक्षण है, तो लौकिक कहलानेवाले रसों में से भी हम प्रत्येक को अन्य सभों से इसलिये विलक्षण कह सकते हैं कि प्रत्येक में अपनी कुछ ऐसी विशेषता होती है जो अन्य में नहीं पाई जाती। इस दृष्टि से प्रत्येक को अलौकिक भी कहा जा सकता है।* सभी रस चिद्रूप भी होते हैं। सभी रसों में जो आनंद होता है वह चमत्कार के कारण; और चमत्कार ज्ञान का ही होता है। किसी न किसी अंश तक किसी न किसी रूप में हमारा अज्ञान हटने पर ही चमत्कार आता है। रह गया यह कि हमारा अज्ञान कहाँ तक दूर हुआ है? इसी प्रश्न पर हमारे आनंद की निकृष्टता और उत्कृष्टता निर्भर है। ब्रह्मानंद को हम पूर्ण सत्ता की अनुभूति दूसरे प्रकरण में बता आए हैं। पूर्ण सत्ता की अनुभूति पूर्ण अज्ञान के नष्ट हो जाने पर होती है। अतः काव्यरस ब्रह्मानंदसहोदर है, इस कथन से भी हमें चकित नहीं होना चाहिए। यदि हम ब्रह्मानंद का अनुमान लौकिक

---

* विशेष द्रष्टव्य इस पुस्तक में परिशिष्ट २, रस की अलौकिकता।

रसों की तुलना से कर सकते हैं* तो काव्यरस का तो हम आस्वादन ही करते हैं; उसकी अन्य रसों से तुलना क्यों नहीं की जा सकती ? इसके सिवा हमारा तो यह विचार है कि काव्यरसों में शृंगार-हास्यादि की परस्पर तुलना और एक ही रस के अनेक प्रकारों की भी परस्पर तुलना हो सकती है। शृंगार रस के सभी काव्यों की अनुभूति एक ही प्रकार की तो नहीं होती।

काव्यरस में एक प्रकार की विशेषता हम अवश्य मान सकते हैं। वह यह कि अन्य रसों की अनुभूति इंद्रियों और इंद्रियार्थों के प्रत्यक्ष संयोग से होती है, और काव्य-रस की अनुभूति इंद्रियों द्वारा ग्रहण किए हुए रूपों की भावना मात्र से।

अब देखिए, साहित्यशास्त्रियों ने रस की निष्पत्ति किस प्रकार बताई है। आचार्य अभिनवगुप्त और मम्मट का

---

* बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्मलोक को परम लोक और ब्रह्मानुभूति को परम आनंद (सबसे बड़ा आनंद) कहा गया है और उसकी वेद्यांतरस्पर्शशून्यता को लौकिक उदाहरण से ही समझाया गया है—तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदनान्तरं एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं...... ।

मत है कि "अज्ञानरूप आवरण से रहित जो चैतन्य है उससे युक्त रत्यादि स्थायी भाव ही रस हैं"। पंडितराज जगन्नाथ कहते हैं कि "रत्यादि से युक्त और आवरणरहित चैतन्य का ही नाम रस है"। * चैतन्य स्वयं आनंदस्वरूप है। परंतु उसकी अनुभूति अज्ञान का आवरण भंग होने पर ही होती है। इस आवरण-भंग का कारण एक अलौकिक क्रिया है। यह अलौकिक क्रिया विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से उत्पन्न होती है।

महापात्र विश्वनाथ सत्त्व के उद्रेक से रस की अनुभूति बतलाते हैं। सत्त्वोद्रेक रजोगुण और तमोगुण की कार्याक्षमता का नाम है। यह भी चैतन्य का आवरण-भंग ही है। सत्त्वोद्रेक अलौकिक काव्यार्थ के परिशीलन से होता है। लोक में जो हमारे सुख-दुःख के प्रत्यक्ष कारण प्रसिद्ध हैं वे काव्योपनिबद्ध होने पर अपने विभावन नाम के अलौकिक व्यापार के कारण 'अलौकिक विभाव' कहलाते हैं। काव्यानुशीलन के समय काव्य में वर्णित विभाव अपनी उसी अलौकिक क्रिया द्वारा पाठकों या श्रोताओं के साधारण

---

* द्रष्टव्य पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी कृत हिंदी रसगंगाधर, भाग १ में इन मतों की व्याख्या, रस का स्वरूप तथा उनके विषय में ग्यारह मत।

आलंबन बन जाते हैं। इस अलौकिक क्रिया को साधारणी-कृति भी कहते हैं।*

यहाँ तक तो कुछ ठीक ठीक समझ में आता है। परंतु इसके आगे, आलंबन का साधारणीकरण किस प्रकार होता है—काव्यगत आलंबन कैसे पाठकों या श्रोताओं के भावों के साधारण आलंबन बन जाते हैं—यह बताने का प्रयत्न नहीं किया गया है। कदाचित् इस प्रश्न को अत्यंत सरल समझकर ही ऐसा किया गया हो। पर साधा-रणीकरण को एक अलौकिक क्रिया मानकर ही छोड़ देने से तो हमें संतोष नहीं होता।

काव्यगत आलंबन प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप में कवि के ही किसी न किसी भाव के आलंबन होते हैं, इसमें तो कोई संदेह नहीं। वे पाठकों या श्रोताओं के भी उसी भाव के आलंबन बन जाते हैं, लेकिन उसी हद तक जहाँ तक उनका पाठकों या श्रोताओं के साथ साधारणीकरण होता है। और उनका साधारणीकरण उसी हद तक होगा जहाँ तक कि कवि की भावना पाठकों वा श्रोताओं की रुचि के अनुकूल होगी। कवि ने आलंबन की जिस रूप में भावना और सृष्टि की है उसी रूप में यदि हमारी रुचि उसे देखना

---

* द्रष्टव्य साहित्यदर्पण, ३।७-९

स्वीकार करे, तो अवश्य वह कवि के समान ही हमारे भावों का आलंबन बन जायगा। काव्यनिबद्ध होने ही के कारण क्यों उसका साधारणीकरण होता है ? इसलिये कि काव्य ही के द्वारा सहृदयों को उसका प्रत्यक्ष होता है। काव्य ही वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपने भावों को पाठकों या श्रोताओं तक पहुँचाता है।

एक अत्यंत साधारण और प्रचलित शब्द होने के कारण 'रुचि' की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। साधारणीकरण जैसी 'अलौकिक' क्रिया में उसका सोलहों आना हाथ है। यदि यह कहा जाय कि रुचि तो श्रेष्ठ भी होती है और निकृष्ट भी, तो हम कहेंगे कि इससे साधारणीकरण में उसका महत्त्व रत्ती भर भी कम नहीं होता। निकृष्ट रुचिवालों में निकृष्ट आलंबनों का ही साधारणीकरण होता है। रस उन्हें उतना ही आता है जितना श्रेष्ठ आलंबनों से श्रेष्ठ रुचिवालों को। यदि हम रामायण की कथा सुनकर रस में निमग्न हो सकते हैं, तो कितने ही भलेमानस 'किस्सा तोता मैना' के आनंद में भी भूख-प्यास भूल जाते हैं।* परंतु श्रेष्ठ कवि श्रेष्ठ आलंबनों की

* लेखक के इस कथन पर कुछ विद्वानों को आपत्ति हुई है परंतु अभी इसमें परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत नहीं

ही सृष्टि किया करते हैं और उनकी योजना में अपनी भावना को विद्वानों की ही रुचि की कसौटी पर रखते हैं। तभी विद्वान् लोगों को उनके काव्य में रस मिलता है।

'जे कवित्त नहिं बुध आदरहीं।
ते स्रम बादि बाल कवि करहीं॥'

यदि विद्वानों की रुचि की यह कसौटी न रखी जाय तो फिर सत्काव्य और असत्काव्य में भेद ही क्या रह जाय?

रुचि का परिष्कार समाज की संस्कृति के अनुसार होता है। जिस समाज की संस्कृति सीता जैसी चरित्रवतियों को उत्पन्न करती है उसकी रुचि शूर्पणखा को राक्षसी ही कहेगी। शकुंतला यदि कण्व मुनि की औरस कन्या होती, तो उसपर दुष्यंत का प्रेम देखकर भी दर्शक उसे अपनी रति का आलंबन न बना सकते, प्रत्युत संभव है कि उल्टे दुष्यंत दर्शकों की घृणा वा क्रोध का विषय बन जाता, अथवा तब उन्हें शृंगार रस की अनुभूति न होकर केवल

होती। हाँ, यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यहाँ न यह कहा ही गया है और न तात्पर्य ही है कि दोनों प्रकार के पाठकों को जो आनंद मिलता है वह एक ही **प्रकार** का है, यहाँ केवल उनकी तल्लीनता से आनंद की **मात्रा** का ही संकेत किया गया है। आगे के कथन से भी यही स्पष्ट होता है।

रसाभास मिलता। पर जिस समाज में प्रेम के लिये वर्ण-मर्यादा का प्रश्न नहीं है, उसके लिये पूर्ण शृंगार रस के आस्वादन में इससे कोई बाधा न पड़ती। यहाँ यह बात नहीं है कि काव्यानुशीलन के समय पाठक या श्रोता को बैठकर काव्यवस्तु के औचित्य का विचार करना पड़ता है। क्योंकि रुचि तो स्वभाव का ही अंग बन जाती है और शिक्षा, संस्कृति तथा परिस्थितियों के अनुसार धार्मिक, सामाजिक आदि औचित्य के विचार उसमें एकरस होकर मिले रहते हैं। कवि को भी अपना आलंबन उपस्थित करने में औचित्य-विचार के लिये आयास नहीं करना पड़ता। उसकी भावना या कल्पना अपने-आप उसकी रुचि से नियंत्रित रहती है। उसकी रुचि लोक या समाज की रुचि है, क्योंकि कवि लोक या समाज से अभिन्न होता है। यदि ऐसा नहीं, तो कवि को अपनी कृति में सफलता नहीं मिल सकती। यदि कवि की रुचि समाज की रुचि से निकृष्ट है तब तो उसका निंदित होना ही स्वाभाविक है, परंतु यदि कवि की रुचि समाज की रुचि से बहुत श्रेष्ठ हो तो भी उसे अपने पूर्ण समादर के लिये अन्य देश-काल का ही आसरा ताकना पड़ेगा।

कवि और उसकी रुचि के संबंध में हमें इससे अधिक

कुछ नहीं कहना है। हमें तो केवल यही देखना था, कि साधारणीकरण की क्रिया अलौकिक होते हुए भी साधारण है। लोक के भावों के साथ एकता स्थापित करना ही उसकी अलौकिकता है। जो हमारे लौकिक सुख-दुःख के कारण हैं उनसे हमारा व्यक्तिगत संबंध ही उनका लौकिकत्व है। काव्य का आनंद साधारणीकरण से प्राप्त होता है और साधारणीकरण में लोकहृदय की समानता वा एकता की ही अनुभूति तो होती है। एक व्यक्ति काव्यरसिकों की सभा में बैठकर कितनी ही करुण या ललित पदावली में अपने बंधु-शोक अथवा अपने पुत्र-जन्म के उत्सव का वर्णन करे, वह उनके हृदयों को रससिक्त करने के बदले स्वयं ही उपहास का पात्र होगा। परंतु वही मनुष्य यदि किसी नदी के एकांत तट पर एक झोपड़ी के कोने में भी बैठकर किसी लोकप्रिय व्यक्ति के हर्ष-शोक का वर्णन करे तो बिजली की तरह उसकी सीधी-सादी उक्ति लोक में प्रचरित हो जायगी और उस व्यक्ति के हर्षशोक से सभी के हृदयों का साधारण रूप से योग होगा। यदि वह व्यक्ति सुपरिचित और विद्यमान न हुआ तो कल्पना को भी अवकाश मिल जाता है ; वह उसके रूप, गुण और कार्यों को अधिक से अधिक पूर्णता प्रदान कर सकती है। तात्पर्य यह

है कि कवि जिन विभावों की सृष्टि करता है उनका ठीक वैसे ही होना आवश्यक नहीं है जैसे वे लोक में देखे जाते हैं, अपितु कविकल्पना लोकरुचि के अनुकूल उन्हें अधिक सुंदर एवं प्रिय बना सकती है।

इस प्रकार धीरे धीरे हम अनायास ही इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि आदर्श और उसका निर्माण करनेवाली कल्पना वा भावना का स्थान रस-पद्धति में भी अटल है। यह कहने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं कि आदर्श यथार्थ का संग कभी छोड़ नहीं सकता।

यूरप में यूनान के प्रसिद्ध विद्वान् अरस्तू ने काव्य के आनंद को अनुकरण का आनंद बताया था। उनका कहना था कि कला की उत्पत्ति का कारण मनुष्य की अनुकरण करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कवि अनुकारक है और उसकी अनुकृति और अनुकार्य (the thing imitated) की समानता का अनुभव ही काव्य का आनंद है। रस या भाव को उन्होंने श्रेष्ठ काव्य का एक आवश्यक अंग माना था, परंतु काव्य का आत्मा वे वस्तु (Plot) को ही समझते थे।

काव्य के संबंध में अपना मत स्थिर करते समय कदाचित् उनकी दृष्टि प्रमाताओं के आनंद की ओर न

जाकर केवल कवि के कौशल पर ही टिकी थी। इसी से उन्होंने काव्यानंद को सहृदयों के हृदय में न ढूँढ़कर केवल कवि के अनुकरण में ही पाया और नाटक तथा महाकाव्य में रस के स्थान पर वस्तु को ही प्रधानता दी। उनका अनुकरण-सिद्धांत लगभग दो हजार वर्षों तक यूरप भर में प्रधान रूप से प्रचलित रहा। परंतु इतने दिनों में कभी लोगों का विचार उसके संबंध में बिल्कुल स्पष्ट हुआ हो, इसमें संदेह है।* अनुकरण में भी आनंद आता है, परंतु उसका काव्य के आनंद से क्या संबंध है, यह ठीक ठीक बतलाना कुछ कठिन है। हमारी समझ में कवि न तो भाँड़ है और न अभिनेता। स्वयं अरस्तू ने ही कहा है कि कवि तीन रूपों

* Francesco Patrizio नाम का एक लेखक तो यहाँ तक लिखता है कि—

'All languages and all philosophic writings and all other writings would be poetry because they are all of words and words are imitations. अर्थात् यदि अनुकरण में ही काव्यत्व हो तो सभी भाषाओं को और सभी दार्शनिक तथा अन्य लेखों को काव्य मानना पड़ेगा क्योंकि वे सभी शब्द हैं और शब्द अनुकरण हैं।

में वस्तुओं को उपस्थित कर सकता है—जैसी वे थीं या हैं; जैसी उन्हें लोग कहते या समझते हैं; अथवा जैसी वे होनी चाहिएँ। इससे प्रकट होता है कि या तो उनके अभिप्राय को व्यक्त करने लिये अनुकरण (Imitation) शब्द ही उपयुक्त नहीं, अथवा उनके सिद्धांत और उपर्युक्त कथन में विरोध है। क्योंकि एक ओर तो अनुकरण में यथार्थता (Actuality) पर जोर दिया गया है और दूसरी ओर 'जैसी वे होनी चाहिएँ' कहकर आदर्श की भावना को भी स्थान दिया गया है। संभवतः पहली ही बात ठीक है।* क्योंकि आगे उन्होंने यह भी बताकर

---

* अंग्रेजी के प्रसिद्ध आधुनिक कवि और समालोचक L. Abercrombie का तो कहना है कि Imitation का अर्थ ही लोगों ने नहीं समझा है। अरस्तू का Imitation से तात्पर्य प्रकृति के यथार्थ चित्रण से नहीं, प्रत्युत मानव-मानस पर प्रकृति जो प्रभाव डालती है उसके अनुकरण से है। Abercrombie के कथन से भी हमारे पक्ष का समर्थन होता है।

(Principles of literary Criticism; Chapter on Poetics.)

अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है कि काव्यसत्य यथार्थ या देशकालविशिष्ट ऐतिहासिक सत्य नहीं, प्रत्युत उससे भी कहीं व्यापक, पूर्ण और सामान्य सत्य होता है। ऐसे सत्य का आधार तो देशकालविशिष्ट सत्य ही होता है, पर कवि को उसकी अभिव्यक्ति के लिये देशकाल की परिमित परिधि को लाँघ जाना पड़ता है। उसकी भावना उसे अधिक व्यापक और विस्तृत बना देती है। कोई चरित्र, घटना या वस्तु जैसी है वैसी ही उसे न लेकर वह उसको अधिक पूर्ण रूप में—जैसी चाहिए उस रूप में—उपस्थित करता है। कवि की नाड़ी परखनेवाले अरस्तू ने अंत में यह बता दिया कि सच्चे कवि पर मिथ्या-कथन का दोष नहीं लगाया जा सकता। उसकी मानसी सृष्टि भी उतनी ही सत्य है जितनी कि प्राकृतिक सृष्टि।

काव्यसत्य का समर्थन इटली के प्रसिद्ध विद्वान् ग्रेविना (Gravina, १६६४–१७१८ ई०) ने बहुत अच्छे ढंग से किया है। उनका कहना था कि सत्य और मिथ्या ज्ञान में अंतर यह है कि सत्य ज्ञान किसी वस्तु का सर्वरूपेण ज्ञान होता है, और मिथ्या ज्ञान केवल उसका आंशिक ज्ञान। एक चतुष्कोण स्तंभ दूर से गोल दिखाई देता है, यह मिथ्या ज्ञान हमारे ज्ञान की अपूर्णता के कारण है। इस

भ्रम का कारण किसी असत् पदार्थ की कल्पना नहीं, प्रत्युत ऐसी धारणा का अभाव है जो हमारी यथार्थ वस्तु की विरूप भावना में बाधक हो। जब किसी असत् रूप की कल्पना अपने विरोधी किसी सत् रूप के ज्ञान द्वारा बाधित नहीं होती तो हम उस कल्पित रूप को ही सत् और विद्यमान के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। यही कारण है कि कवि के काल्पनिक रूपों के प्रति भी हमारे वही भाव होते हैं जो वास्तविक रूपों के प्रति। हमारे भाव पदार्थों के वास्तविक रूप-गुण के अनुसार नहीं, प्रत्युत उस प्रभाव के अनुसार होते हैं जो वे रूप-गुण हमारे मन पर छोड़ जाते हैं। कवि की कृति वास्तविक पदार्थों के समान ही हमें प्रभावित करे, इसके लिये उसे अपने काव्य में ऐसी बातों का समावेश नहीं होने देना चाहिए जो अविश्वसनीय हों अथवा वर्ण्य देश, काल और व्यक्ति के स्वभाव के विरुद्ध हों। इस प्रकार उदार और चतुर ग्रेविना ने एक प्रकार से कवि की कल्पनारूपी हरियल गाय के गले का भारी काठ तो निकाल दिया पर उसके नियंत्रण के लिये घेरा भी बाँध दिया। वास्तव में उन्होंने काव्य में आदर्श और यथार्थ का उचित संबंध स्थिर कर दिया।

यूरप में पहले कल्पना का सबसे अधिक प्रचार करने-

वाले हुए ईसा की अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में इंगलैंड के एडीसन साहब (J. Addison) । उन्होंने काव्यानंद को कल्पना का आनंद बताया। कल्पना को उन्होंने मन की एक विशिष्ट शक्ति माना और उसके दो क्रियाभेद किए। एक का सबंध कवि से है और दूसरे का पाठक से। एडीसन का स्पष्ट कथन है कि मनुष्य व्यक्त प्रकृति में जो कुछ देखता है उससे उसका पूर्ण संतोष नहीं होता। वह प्रकृति की वस्तुओं को अधिक पूर्ण रूप में देखना चाहता है। अतः उन्हें पूर्णता प्रदान करके कल्पना को तृप्त करना कवि का कर्तव्य है।

लगभग उसी काल में इटली के विद्वान् मुरेटरी (Muratori, १६७२–१७५० ई०) ने भी कल्पनाको प्रधान मानकर एडीसन की अपेक्षा कहीं अधिक व्यवस्थित रूप में एक स्वतंत्र पद्धति बना डाली थी। एडीसन के विचार उनसे बहुत अधिक मिलते-जुलते हैं। काव्य में 'नूतनता' और 'विलक्षणता' (Novita and Maraviglia) को ग्रेविना, मुरेटरी और एडीसन तीनों ने अत्यंत आवश्यक माना है। मुरेटरी के अनुसार कल्पना (fantasia) ही नूतनता और विलक्षणता की जननी है। यहाँ एडीसन और मुरेटरी में एक सूक्ष्म अंतर ध्यान देने योग्य है।

एडीसन ने कवि और पाठक के संबंध से अलग अलग विधायक और ग्राहक—कल्पना के ये दो क्रियाभेद किए। परंतु मुरेटरी ने ये ही दो भेद रुचि के किए हैं—एक तो वह जो कवि के कार्य में सहायक होती है, और दूसरी वह जो पाठक को काव्यगत सौंदर्य को परखने में समर्थ करती है। *

उन्होंने लोकरुचि (Universal good taste) को व्यक्तिगत रुचि (Particular good taste) से श्रेष्ठ माना है। यद्यपि उनका कहना है कि हर्ष और विस्मय उत्पन्न करने के लिये कवि को वस्तुओं के यथार्थ रूप का चित्रण न करके उन्हें संभाव्य और पूर्ण रूप में ही उपस्थित करना चाहिए, और ऐसा करने में उन्होंने कल्पना-शक्ति की ही प्रधानता स्वीकार की है, तथापि रुचि के उक्त भेदों से स्पष्ट है कि वे कल्पना पर उचित नियंत्रण रखने के लिये रुचि के महत्त्व को भली भाँति समझते थे। एडीसन ने यह अवश्य कहा था कि कवि को वस्तुओं के रूपों

---

* इन दोनों भेदों के नाम उन्होंने क्रम से Fecund good taste और Sterile good taste रखे हैं।

में आवश्यकता से अधिक सुधार नहीं करना चाहिए*, परंतु कल्पना के लिये उन्होंने कोई स्पष्ट सीमा नहीं बाँधी थी।

हमने रुचि के दो भेद न मानकर कवि की रुचि को लोकरुचि से अभिन्न माना है। सिद्ध कवि की कल्पना स्वतः रुचि से नियंत्रित रहकर नित्य नए नए रूपविधान किया करती है। कवि की इसी शक्ति का नाम प्रतिभा है। कदाचित् रुचि से नियंत्रित रहने के कारण ही उसे कल्पना न कहकर बुद्धि कहा गया है—'बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।' विक्टर कज़िन (Victor Cousin) के अनुसार प्रतिभा (Genius) उस शक्ति का नाम है जो रूपों और विचारों के विधान में आदर्श और यथार्थ का

---

* He (the poet) has the modelling of nature in his own hands, and may give her what charms he pleases, provided he does not reform her too much.

—Addison.

ठीक ठीक संबंध तत्काल जान सके। आदर्श और यथार्थ का यही उचित संयोग वा समन्वय कला की पूर्णता है।*

---

* Genius is a quick and unerring perception of the just proportion in which the ideal and the natural form and thought are to be united. This union is the perfection of art.

—Victor Cousin.

छठा प्रकरण

काव्य में आदर्शवाद

'वाद' शब्द सामान्यतः किसी सिद्धांत या प्रवृत्ति-विशेष का सूचक है। इस दृष्टि से उच्चता, उत्तमता, सुव्यवस्था और पूर्णता की ओर बढ़ने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को ही यदि हम आदर्शवाद कहना चाहें तो कह सकते हैं। परंतु यूरप में आजकल जो बीसों 'वाद' (isms) प्रचलित हैं उनका रूप देखने से 'वाद' शब्द से विरोध का भाव भी प्रकट होता है। किसी एक वाद का नाम लेने से प्रायः उसका विरोधी दूसरा वाद भी सामने उपस्थित होता है। इसी प्रकार आदर्शवाद (Idealism) और यथार्थवाद (Realism) का स्मरण इनके परस्पर विरोध के कारण साथ ही साथ होता है। इस विरोध का कारण

पहले ही बताया जा चुका है । पूर्णता की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति वास्तव में न तो आदर्शवाद है और न यथार्थवाद । वह तो मानवस्वभाव का ही अंग है । किंतु जब यह प्रवृत्ति अपनी स्वाभाविक परिधि को लाँघकर जीवन के सामान्य सत्यों की उपेक्षा करने लगती है तो यथार्थवाद द्वारा उसका विरोध होता है । पर यथार्थवाद भी मानवप्रकृति की यथार्थता से अलग रहकर चिरजीवी नहीं रह सकता । अपनी अंतिम सीमा पर पहुँचकर फिर उसे किस प्रकार स्वभावतः आदर्शवाद की ओर मुड़ जाना पड़ता है यह अगले प्रकरण में स्पष्ट हो जायगा ।

दर्शन में तो हमारे यहाँ भी अध्यात्मवाद के मुकाबिले में अधिभूतवाद ने पहले ही सिर उठाया था, परंतु काव्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद का विवाद यूरप में ही खड़ा हुआ । संक्षेप में इस विवाद का रूप स्पष्ट करने का प्रयत्न इस तथा अगले प्रकरण में किया जायगा; किंतु उसके पहले दो बातें ध्यान में रखनी आवश्यक हैं । एक तो यह कि उक्त दोनों वादों के विषय में किसी निश्चित और सर्वमान्य परिभाषा की आशा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उच्च कोटि के लेखकों ने भी इनके प्रयोग में विशेष सावधानी की आवश्यकता नहीं समझी है । आदर्शवाद

और यथार्थवाद के जो दार्शनिक अर्थ होते हैं, केवल उन्हीं अर्थों में वे साहित्य में प्रयुक्त नहीं हुए हैं।

दूसरी बात यह है कि काव्य के क्षेत्र में आदर्शवाद और यथार्थवाद के बीच कालगत वा स्थानगत कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। यह समझने की चेष्टा करना व्यर्थ होगा कि अमुक देश में अमुक काल तक सभी कवि वा लेखक आदर्शवादी हुए फिर उसके बाद यथार्थवाद का समय आया। मानव-प्रवृत्ति चंचल होती है। एक ही व्यक्ति अथवा जनसमूह परिस्थितियों के धक्कों से कभी इधर और कभी उधर लुढ़क जाया करता है। आदर्शवाद और यथार्थवाद दो ऐसी मानव-प्रवृत्तियाँ हैं जो जीवन के प्रत्येक विभाग में व्यापक रूप से काम करती हैं, और प्रचलित विचार-धाराओं से बराबर प्रभावित भी होती रहती हैं। संघर्ष-पूर्ण यूरप में धर्म, दर्शन, राजनीति, विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में अनेकों 'वाद' बारी बारी से अवसर पाकर उठा-बैठा करते हैं। साहित्य के रंगमंच पर भी वही दृश्य देखने में आता है। अतः हमारे लिये यही जानना आवश्यक होगा कि उनके बीच से होकर किसी प्रवृत्ति का विकास किन-किन रूपों में हुआ।

यूरप के दो आदि आचार्यों (प्लेटो और अरस्तू) का

नाम पहले लिया जा चुका है। वर्सफोल्ड साहब (Worsfold) उनके विषय में लिखते हैं–"प्लेटो आदर्शवादी थे। मानवजीवन के अध्ययन से जो सिद्धांत उन्होंने निकाले थे वे ही उनकी समीक्षा के आधार थे। परंतु अरस्तू यथार्थवादी थे। उन्होंने अपनी समीक्षा का आधार उस समय की प्रस्तुत साहित्यिक सामग्री को ही बनाया।"* इस कथन में आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों आचार्यों की भिन्न-भिन्न सीमीक्षाप्रणालियों या रीतियों (methods) के लिये आए हैं, न कि उनके सिद्धांतों के निरूपण के लिये। पहले ही से कुछ सिद्धांत निर्धारित करके उनके आधार पर वस्तुओं की परीक्षा करना आदर्शवादी पद्धति (Idealistic method) है, और प्रस्तुत वस्तुओं के

---

* "Plato is an idealist, his criticism is based on principles deduced from the study of the life of man. Aristotle is a realist; his criticism is based upon a consideration of the actual literary material which lay before him."

—Principles of Literary Criticism by Worsfold.

रूप-गुण का निरीक्षण करके फल निकालना यथार्थवादी पद्धति (Realistic method)। 'आदर्शवादी पद्धति' और 'यथार्थवादी पद्धति' शब्द हिंदी में प्रचुरप्रयुक्त नहीं हैं और न इनसे हमारा अर्थ ही अभिप्रेत है। प्लेटो और अरस्तू को हम जिस अर्थ में आदर्शवादी या यथार्थवादी कहना चाहते हैं वह इटली के यथार्थवादी कवि और विद्वान् मार्टेली (Martelli, १६६५–१७२७) के एक व्यंग से प्रकट है। उन्होंने यथार्थवाद के पक्ष में अपने कल्पनाबल से पुराने अरस्तू को फिर से जीवित कर लिया था। उनका कल्पित अरस्तू कहता है कि 'मेरे चिरकाल के अनुभव ने दार्शनिकों के आदर्शवाद पर से मेरा विश्वास उठा दिया है। ये आदर्शवादी संसार के सभी पदार्थों को तुच्छ समझकर उन्हें पूर्ण आदर्श रूप देना चाहते हैं। किंतु मानवबुद्धि की स्वाभाविक दुर्बलता ऐसी पूर्णता को अप्राप्य और अवांछनीय समझती है।........प्लेटो ने अपने ग्रंथ में एक आदर्श जनतंत्र की व्यवस्था का प्रयत्न किया है। परंतु मनुष्य द्वारा संचालित कोई राष्ट्र कभी उनकी व्यवस्था के अनुसार चल नहीं सका'।*

---

* द्रष्टव्य Robertson: The Genesis of Romantic Theory.

धार्मिक या नैतिक औचित्य को प्लेटो इतनी दूर खींच ले गए थे कि उनकी तीव्र दृष्टि के सामने होमर के महाकाव्य भी नहीं ठहर सके। दार्शनिक तथ्यों का उद्‌घाटन करना ही वे काव्य का कर्तव्य समझते थे। काव्यप्रेमी होते हुए भी वे कवि-कल्पित वस्तुओं को मिथ्यालाप समझते थे। अरस्तू ने यथार्थ (Actual) और 'संभव' (Verisimilar or Probable) दोनों प्रकार के सत्यों के वर्णन का अधिकार कवि को देकर उनके आक्षेप का निराकरण किया।*

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्लेटो का आदर्शवाद केवल बुद्ध्यात्मक था। जिसबात को तर्क द्वारा बुद्धि स्वीकार न कर सके उसके वर्णन का अधिकार वे कवि को नहीं देना चाहते थे। वे कल्पना को ही नहीं, अपितु भाव को भी अस्वीकार करते थे। अरस्तू ने भाव की सत्यता तो स्वीकार की, परंतु प्रधानता काव्यवस्तु (Plot) को ही दी। हाँ, काव्य में 'संभव' सत्य को स्वीकार करके उन्होंने कवि की 'संभावना' या कल्पना को भी नियंत्रित रूप में स्थान दिया। अरस्तू का आचार्यत्व

---

* द्रष्टव्य प्रस्तुत पुस्तक के पृ० ६३–६५

लोगों ने स्वीकार किया। किंतु उन्होंने काव्यरीति (Technique of poetry) पर इतना जोर दिया था कि पीछे लोग काव्यरीति को ही काव्य समझने लगे और धार्मिक और नैतिक औचित्य की परवाह कवियों को बहुत कम रहने लगी। सोलहवीं शताब्दी में समस्त यूरप का धार्मिक और साहित्यिक नेतृत्व करनेवाले इटली देश में अश्लील रचनाओं की इतनी भरमार हुई कि अन्य देशों के समालोचक भी उससे घृणा करने लगे। पोप को भी उसके विरुद्ध घोषणा करनी पड़ी। तब वहाँ के विद्वान् लोग काव्य के वास्तविक आत्मा की खोज में लग गए और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ग्रेविना (Gravina) ने 'नूतनता' और 'विलक्षणता' तथा मुरेटरी (Muratori) ने इन दोनों की जननी 'कल्पना' (Fantasia) को काव्य में निश्चित स्थान दिया। इसके पश्चात् कल्पना का प्रभुत्व दिनोंदिन बढ़ता ही गया।

कल्पना (Imagination) को पहले-पहल इंगलैंड के दार्शनिक विद्वान् बेकन (Bacon, १६०५) ने काव्य-विधायिनी शक्ति के रूप में माना था। एडीसन ने भी यही मानकर उसकी व्याख्या की थी। मुरेटरी की फैंटैसिया भी तत्त्वतः उससे भिन्न नहीं थी। इन विद्वानों ने बुद्धि

(Intellect) और इंद्रियानुभूति (Sensual feeling) से कल्पना का सर्वथा संबंधविच्छेद नहीं किया था; परंतु इटली के विचो* (Giambattista Vico, १६६८-१७४४) ने इन दोनों से उसको पूर्ण स्वतंत्र कर दिया। मानवजाति के आध्यात्मिक इतिहास में उन्होंने काव्य को एक विशेष स्थान दिया और कल्पना को एक स्वतंत्र प्रकार का ज्ञान माना। इसके बाद अठारहवीं शताब्दी के जर्मन आदर्शवादियों ने भी सिद्धांतरूप से उसे बहुत ऊँचा स्थान दिया और सीधे अध्यात्म से उसका संबंध जोड़ दिया। शीलिंग और सालगर (Schelling, Solger) ने एक विशिष्ट प्रकार की कल्पना 'फैंसी' (Fancy) को प्राधान्य दिया जो साधारण कल्पना (Imagination) से भिन्न थी। उनकी कल्पना को एक प्रकार की दिव्य या इलहामी शक्ति समझना चाहिए जिसके द्वारा मनुष्य को असाधारण ज्ञान प्राप्त होता है। कला में यह कल्पना वह शक्ति है जो

---

* Gravina, Muratori, Vico के एकत्र परिचय के लिये देखिए—

The Genesis of Romantic Theory by Robertson.

भाव (idea) को यथार्थ रूप प्रदान करती है।* शीलिंग के अनुसार सच्ची कला क्षणमात्र की अनुभूति नहीं, वह अनंत वा शाश्वत जीवन का निदर्शन है। वे ही भाव जिनके कि प्रकृति की वस्तुएँ दर्शनशास्त्र के अनुसार अपूर्ण प्रतिरूप हैं, कला में पुनः मूर्त होकर, अतएव अपने पूर्ण रूप में, प्रकट होते हैं।†

इस प्रकार काव्य में एक कल्पनामूलक आदर्शवाद की सृष्टि हुई। इसके अनुसार कवि अपनी कल्पना में अनंत सत्ता का साक्षात्कार करता है। यही नहीं, जो भी रूप या भावनाएँ उसकी कल्पना में आती हैं वे सब अक्षर (नित्य) सत्य (Eternal truth) हैं। कवि की कला अनंत सत्ता का ही मूर्त रूप है।

---

* By means of fancy we are able to understand things more lofty than those of common knowledge, and in them we recognize the idea itself as real. In art fancy is the faculty of transforming idea into reality.

† True art is not the impression of

ससीम में असीम (Infinite in the finite) और प्रत्यक्ष में परोक्ष का आभास रहस्यवादियों को भी मिलता है। अतः इस आदर्शवाद का संबंध रहस्यवाद* (Mysticism) से भी है। इसने उन कलावादियों को भी प्रोत्साहन दिया जो 'कलावाद' (Art for Art's sake) के नाम पर काव्य की एक नई ही दुनिया बसाना चाहते थे। उनके मत के अनुसार काव्यलोक इस जीवन

---

the moment, but the representation of the infinite life; it is transcendental intuition objectified......Those same ideas, of which real things are, as philosophy shows, imperfect copies, reappear in art objectified as ideas, and therefore in their perfection

—Historical survey in 'Aesthetic. by Croce. (Eng. trans.)

* रहस्यवाद से यहाँ तात्पर्य काव्यगत रहस्यवाद से है जिसका विषय अव्यक्त सत्ता के प्रति प्रेम होता है। विशेष द्रष्टव्य—'काव्य में रहस्यवाद' (रामचंद्र शुक्ल) तथा 'काव्यकला और अन्य निबंध' (जयशंकर प्रसाद)।

और जगत् के परे एक स्वतंत्र लोक है जिसमें प्रवेश पाने के लिये हमें इस लोक से बिल्कुल संबंध तोड़ देना चाहिए। इस मत का खंडन करते हुए इंगलैंड के प्रसिद्ध काव्य-समीक्षक आइ० ए० रिचार्ड्स ने उसके प्रचार के अन्य कारणों में जर्मन आदर्शवादियों का भी हाथ बतलाया है।*

जर्मन आदर्शवादियों के सिवा काव्यक्षेत्र में नवीनतावादियों (Romanticists) का आंदोलन विशेष प्रबल हुआ जिसका इंगलैंड में पूर्ण विकास उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। नवीनतावाद (Romanticism) का प्राण भी कल्पना ही थी। इस मत के लोग भी आदर्शवादी ही थे और इनका आदर्शवाद रोमैंटिक आदर्शवाद (Romantic Idealism) के नाम से प्रसिद्ध है। कला अथवा

* "...The reasons are many. The influence of the German Idealists and the applications of the scientific method of dealing with things are among them."

—I. A. Richards : Principles of Literary Criticism, Chap. X.

काव्य के विषय में इनका मत भी वही है जो जर्मनी के दार्शनिक आदर्शवादियों का।*

काव्य परोक्ष आध्यात्मिक सत्ता का मूर्त रूप है, और कल्पनालोक की एक असाधारण वस्तु है—इसका अर्थ यदि हम इतना ही समझकर छोड़ दें कि यह दृश्य प्रकृति उस अनंत ब्रह्म का बाह्य और परिवर्तनशील रूप है और कवि कल्पना द्वारा रूपविधान करके हमें उसके विलक्षण सौंदर्य का अनुभव कराता है, तो कोई हानि नहीं। परंतु हठपूर्वक काव्य को दुर्बोध अलौकिकता प्रदान करने से अवश्य ही प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अपनी कल्पना की मौलिकता और अलौकिकता दिखाने का अवसर मिलता है; सभी लालायित होकर अपना अपना कल्पनावैचित्र्य दिखाने और सिद्धांतरूप में उसका समर्थन

* The romantic conception of art is in substance that of the idealist German philosophy where we find it in a more coherent and systematic form. It is the conception of Schelling, Solger and Hegel. —Hist. Survey,

Aesthetic by Croce (Eng. trans).

करने लगते हैं। इससे साहित्य में व्यक्तिवाद (Literary Individualism)* का प्रचार बढ़ता है।

यदि जर्मन और रोमैंटिक कल्पनावादियों ने अन्य वादों को जन्म देकर काव्य को दुरूहता प्रदान की, तो शुष्क धार्मिक और नैतिक आदर्शवादियों ने कोरे उपदेशों को ही काव्य का विषय बनाया। कवि काव्य के द्वारा व्यापक धार्मिक तत्त्वों एवं नैतिक आदर्शों का प्रचार भी कर सकता है। परंतु वह हमें हमारे जीवन की यथार्थता के बीच रखकर परोक्ष रूप में ही ऐसा करता है। सूखे निबंधों

---

* लुई कजामियन आधुनिक अंग्रेजी साहित्य में व्यक्तिवाद के संबंध में कहते हैं—"It has become so easy and so natural a thing to express one's own originality to one self and to draw up a programme that all beginners are or want to be original; all are leaders of some school or other; the result is that there is no longer any real school."

—A study of English Literature, by Luis Cazamian.

और भाषणों द्वारा अत्यधिक उपदेशात्मक (Didactic) बना देने से काव्य बहिष्कार के योग्य हो जाता है।

आदर्शवाद से संबंध रखनेवाली जितनी प्रवृत्तियाँ हैं, सभी क्रमशः अप्रतिहत रूप में विकसित होती गई हों यह बात नहीं है। यथार्थवाद समय समय पर उनकी विरोधिनी प्रवृत्तियों में प्रकट होता रहा। परंतु समाज का प्राचीन संघटन ही आदर्शवाद के दृढ़ आधार पर हुआ था। धार्मिक और आध्यात्मिक (Religious and Spiritual) विश्वास ही उसकी मूल शक्ति था जो जीवन के प्रत्येक विभाग का नियंत्रण करता था। अतएव कोई साधारण शक्ति उसके सामने ठहर नहीं सकती थी। सामाजिक स्थिति में बहुत-कुछ परिवर्तन तो यूरप में प्रोटेस्टेंट मत के अभ्युदय के साथ धार्मिक क्रांतियों ने ही कर दिया था, परंतु जब यंत्रों के आविष्कार का युग आया और विज्ञान की दिनोंदिन उन्नति होने लगी तो वहाँ बड़ी बड़ी आर्थिक और राजनीतिक क्रांतियाँ हुईं। समाज का पुराना ढाँचा टूट गया। अध्यात्मवाद और आदर्शवाद की नींव हिल गई। सबसे बड़ा धक्का कार्ल मार्क्स (Carl marx) के सिद्धांतों ने दिया जो आधुनिक साम्यवादियों के आदि गुरु थे।

कार्ल मार्क्स के मत के अनुसार प्राचीन समाज का निर्माण पूँजीवाद (Capitalism) के आधार पर हुआ था और सारा अध्यात्मवाद एवं सारे धर्म पूँजीपतियों ने अपने सुख के लिये रचे थे। इस रीति से पूँजीवाद के साथ उन्होंने धार्मिक और दार्शनिक सिद्धांतों पर भी आक्रमण किया। उन्होंने आदर्शवादियों के सिद्धांत का घोर विरोध किया कि यह दृश्य जगत् किसी परोक्ष आध्यात्मिक सत्ता का बाह्य रूप है जो उसी सत्ता द्वारा परिचालित होता है। उनका मत था कि यह गोचर जगत् (Objective Reality) स्वयमेव अपना परिचालन करता है; हमारे चैतन्य* का उसमें कोई स्वतंत्र हाथ नहीं है, वह केवल उसकी क्रिया में एक साधनमात्र है। इस प्रकार धर्माधर्म के विचार का उत्तरदायित्व उन्होंने व्यक्ति या समाज के ऊपर से बिलकुल उतार दिया; क्योंकि धर्माधर्म का विचार उसी समाज में हो सकता है जो हमारे चैतन्य को हमारी जड़ क्रिया से भिन्न एक स्वतंत्र कर्ता के रूप में माने।

---

* साम्यवादियों का 'चैतन्य' आत्मा (Soul) नहीं, प्रत्युत वह हमारे मन की चेतन क्रिया (Consciousness) का नाम है जिसे वे भौतिक शरीर का ही अंग मानते हैं।

जो कुछ है वह दृश्य जगत् है, परोक्ष वा अगोचर कुछ नहीं है और मनुष्य केवल परिस्थितियों का दास है— इस अधिभूतवाद (Materialism) का जीवन की प्रत्येक गति पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा और इससे साहित्य में भी यथार्थवाद को बहुत प्रोत्साहन मिला। यों इब्सन (Ibson) भी यथार्थवाद के आचार्य प्रसिद्ध हैं जिनके भक्त इंगलैंड के बर्नर्डशा (Bernard Shaw) थे, और उनका प्रभाव यूरोपीय साहित्य पर कम नहीं है। किंतु उपर्युक्त अधिभूतवाद ही सबसे प्रबल सिद्ध हुआ।

सातवाँ प्रकरण

काव्य में यथार्थवाद

भौतिक विज्ञानवादी इस गोचर भौतिक जगत् को किसी अज्ञात सत्ता का दृश्य रूप या प्रतिबिंब अथवा उसकी इच्छा का परिणाम नहीं मानता। उसकी समझ के अनुसार प्रकृति के परिवर्तनों के भीतर जिन अखंड नियमों का ज्ञान हमें होता है, उन्हीं पर इस जगत् के सारे कार्य अवलंबित हैं, और सुखदुःख तथा इच्छाप्रयत्नादि हमारी समस्त आंतरिक क्रियाएँ इसी जड़ जगत् के ही हलचल के अंग हैं। मात्रास्पर्श को वह शीतोष्ण-सुखदुःख का कारण मानता है, परंतु अध्यात्मवादियों की भाँति उन्हें अनित्य समझकर किसी नित्य सुख की खोज में उनको सहन करने की

सलाह नहीं देता।* वह कहता है कि सुगम से सुगम उपायों द्वारा अपनी अधिक से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेने पर हमें आनंद के लिये किसी अव्यक्त आध्यात्मिक सत्ता का आश्रय लेने की जरूरत नहीं। प्रकृति के नियमों को जानकर उनकी सहायता से हम अपने आनंद के सभी साधन प्रस्तुत कर सकते हैं।

उक्त प्रवृत्ति का जिज्ञासु संसार के निरीक्षण में बड़ी सावधानी से काम लेता है। वह अत्यंत निरपेक्ष भाव से वस्तुओं एवं कल्पना, भाव और विचारों आदि का भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में विश्लेषण करके एक निश्चित परिणाम पर पहुँचना चाहता है। इसलिये वस्तुओं या घटनाओं आदि का जो वास्तविक रूप है उसपर अपने हृदय के भावों का आरोप करने से वह बहुत बचने का प्रयत्न करता है, क्योंकि इससे उसे सत्य से हाथ धो बैठने का डर रहता है। इस प्रवृत्ति से काव्य को सहायता मिल सकती है, क्योंकि इससे प्राप्त सत्यों के द्वारा हमारी कल्पना की उच्छृं-

---

* मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

—गीता २।१४

खलता का दमन तथा भावों का परिष्कार होता है। परंतु जब यह प्रवृत्ति काव्य के मर्म को न समझकर उसमें अनुचित हस्तक्षेप करती है तो कवि की कृति भी वैज्ञानिक प्रयोगशाला बन जाती है, जिसमें कल्पना की तृप्ति एवं भावों के परिष्कार अथवा सामंजस्य का ध्यान रखे बिना ही भली बुरी सभी वस्तुओं का चित्रण सरल और स्वाभाविक भाषा में होता है।

जब आदर्शवाद कल्पना के नाम पर काव्य को यथार्थ लोक से बहुत दूर खींच ले गया तो उपर्युक्त प्रवृत्ति भौतिक विज्ञान का बल लेकर यूरोपीय साहित्य में 'वास्तववाद' (Naturalism) के नाम से प्रकट हुई। यह वाद कार्यतः किसी प्रकार के साहित्यिक अलंकारों का, अथवा वस्तुओं या भावों में किसी प्रकार के आदर्शीकरण का विरोधी है और इस बात का समर्थक है कि मनुष्य सभी बातों में पशु के समान है, विशेष कर रति के संबंध में। यह अत्यंत निम्न और पतित श्रेणी के लोगों के जीवन को अपना सर्वोत्तम विषय समझता है। इसे हम यथार्थवाद की पराकाष्ठा कह सकते हैं।

जीवन के विषय में मूल तत्त्व को ढूँढ़ निकालना ही यथार्थवादी का मुख्य ध्येय होता है। इसलिये उसमें दो

बातें विशेष रूप से पाई जाती हैं। एक तो यह कि भद्दे से भद्दे और समाज द्वारा निषिद्ध विषयों का भी वह परित्याग नहीं करना चाहता। दूसरे वह अपने वर्णन में वस्तुओं की यथार्थता पर ही अधिक बल देता है और यथासंभव उन्हें ज्यों की त्यों पाठकों के सामने रखना चाहता है। परंतु बहुत से निम्न रुचि के लेखक यथार्थवाद का दुष्प्रयोग कर उसे बहुत बदनाम कर देते हैं। उनका उद्देश्य सत्यान्वेषण नहीं होता, प्रत्युत वे केवल जीवन के हेय और अश्लील पक्ष का ही चित्रण करके कच्चे पाठकों की पाशव वृत्तियों का मनोरंजन करना चाहते हैं। यों वे सत्य का चित्रण करना अपना सिद्धांत बतलाते हैं तथा कोई कोई ऐसे चित्रण का उद्देश्य समाज-सुधार घोषित करते हैं। यह तो बुरा नहीं है, परंतु सत्य और यथार्थ केवल गंदी और अश्लील बातों में ही तो नहीं रहता। उदात्त चरित्रों और उत्तम गुणों का वर्णन भी तो सत्य ही है। दूसरे, यदि समाज की गंदगी और बुराइयों का यथार्थ वर्णन इस ढंग से किया जाय कि पाठक उन्हीं में रस लेने लग जायँ तब तो समाज-सुधार और सत्यान्वेषण के दावे को अपनी ही निम्न प्रवृत्तियों पर पर्दा डालने का प्रयत्न, अतएव भारी पाखंड समझा जायगा।

प्रकृत काव्य का लक्ष्य है हमारे भावों को जगाना, रमाना और विश्राम देना। कवि को अपनी कृति में विषयों का 'चुनाव' और वर्णन का ढंग, इन दोनों बातों का ध्यान अवश्य रखना पड़ता है। इसके बिना उसके उद्देश्य की सफलता संभव नहीं। वह ऐसी ही वस्तुओं या किसी वस्तु के ऐसे ही पक्षों को ग्रहण करता है जो हमारे भावों के उद्‌बोधन में समर्थ होते हैं। वह भद्दी से भद्दी और नीरस से नीरस वस्तुओं का भी वर्णन करता है, परंतु अपनी मनोहर वर्णनशैली और मधुर कल्पना के द्वारा उन्हें हमारे लिये आकर्षक बना देता है। वह वैज्ञानिक की भाँति यथार्थता के पीछे नहीं पड़ता; क्योंकि कोई काव्यरसिक इस हेतु काव्यानुशीलन करने नहीं बैठता कि वह जीवन के तथ्यों का अनुसंधान करे और इसके लिये फिर फिर जीवन के उन्हीं पचड़ों को दोहरावे जिनके बीच रातदिन रहते रहते वह ऊब गया है। वह तो सांसारिक धंधों की शुष्कता से ऊबकर विश्राम और आनंद के लिये ही कवि का आश्रय लेता है। तब सच्चे कवि का कर्तव्य है कि वह उसके भावों को तृप्त कर उसे शांति दे और उसके हृदय को स्निग्ध एवं सिक्त करके एक नवीन उत्साह के साथ उसे जीवन में अग्रसर करे।

यथार्थवादी ऐसा करने में सफल नहीं हो सकता। उसका न यह उद्देश्य ही है न वसे साधन ही उसके पास हैं, क्योंकि वह जान-बूझकर उनका तिरस्कार करता है। इसी लिये यथार्थवाद अपने विकृत रूप (वास्तववाद) में बहुत दिन तक नहीं रह सका। अन्य वादों ने उसे दबा दिया। परंतु युग के प्रभाव के कारण वह नष्ट नहीं हुआ। अन्य साहित्यिक वादों के प्रभाव को स्वीकार कर वह साहित्य के क्षेत्र में अपना अधिकार (या कम से कम नाम ही) बनाए रख सकने में समर्थ हुआ। उन वादों में से मुख्य ये हैं—(१) प्रतीकवाद (Symbolism), (२) प्रभाववाद (Impressionism), (३) अभिव्यंजनावाद (Expressionism) और (४) Dadaism जिसे हम अस्पष्टतावाद कह सकते हैं।

यथार्थवाद पर इन वादों का प्रभाव देखने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि साहित्य में यथार्थवाद की चर्चा लेखकों ने अधिकतर उपन्यासों और नाटकों में चरित्रचित्रण आदि के साथ की है। उपन्यास गद्य-साहित्य का एक प्रधान अंग है और आधुनिक नाटक भी गद्यप्रधान ही होते हैं। जिस प्रकार धार्मिक क्रांति, भौतिक विज्ञान, यथार्थवाद, साम्यवाद, जनतंत्र और यंत्र का प्राधान्य आधुनिक

युग की विशेषता है उसी प्रकार गद्य का प्रभुत्व भी। सर्व-साधारण में विचारों के आदान-प्रदान का गद्य ही सुगम-तर साधन है। जीवन का विवृत (Detailed) और स्पष्टतम चित्र साधारणतया गद्य में ही सुगमता से रखा जा सकता है। इसी लिये उपन्यास और नाटक की इतनी लोकप्रियता हुई और इसी लिये यथार्थवाद ने पद्य-काव्य में सरलता से अपनी दाल गलती न देख इन्हीं में बेखटके हाथ-पाँव फैलाया। किंतु पद्य-काव्य पर भी उसका असर पड़ा, और मात्रा में कम सही, पर उसी प्रकार पड़ा जैसे उपन्यास और नाटक पर।

अंग्रेजी साहित्य में आगे चलकर यथार्थवाद का रूप बहुत कुछ बदल गया। वह कल्पनामय और रहस्यमय हो गया, अपने भीतर ऐसी बातों का समावेश करने लग गया जो सत्य के साधारण पथ से दूर, असंभव और अविश्लेष्य मालूम होती हैं। यों भी कह सकते हैं कि वह काव्य में कल्पना की आवश्यकता अनुभव करने लगा और यथार्थवाद की सीमा के भीतर पहुँच गया जो यथार्थता पर अस्वाभाविक रूप से जोर देने का स्वाभाविक परिणाम था। परंतु यथार्थवाद के समर्थक कहते तब भी यही रहे कि हमने सत्य के अन्वेषण के लिये अपने क्षेत्र को

और अधिक विस्तृत कर लिया है जिसमें सत्य की रूढ़िगत लीक पर चलने की कोई आवश्यकता नहीं। जिसे लोग असंभव कहते हैं वह गूढ़ सत्य है जो भौतिक विज्ञान और तन्मूलक मनोविज्ञान की सहायता से समझाया जा सकता है। अर्थात् कवि की ही काल्पनिक सृष्टि को नहीं, कल्पना मात्र को उन्होंने मनोवैज्ञानिक सत्य कहकर स्वीकार कर लिया।

अब अन्य वादों* ने यथार्थवाद के रूपपरिवर्तन में कहाँ तक योग दिया, यह भी देख लेना चाहिए। उन वादों का विस्तृत वर्णन हमारा मुख्य विषय नहीं है, अतः साररूप में यहाँ उनके प्रभावों का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा।

(१) काव्यप्रेमी मनुष्य कवि से कम में कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ की आशा करता है। इसके अतिरिक्त जब किसी वस्तु या भाव का वर्णन उसके वाचक

---

*Naturalism, Symbolism, Impressionism Expressionism और Dadaism के संक्षिप्त वर्णन में Myers की "Later Realism" नाम की पुस्तक से आवश्यकतानुसार सहायता ली गई है।

शब्दों द्वारा स्पष्ट रूप में किया जाता है तो काव्य का प्रभाव फीका पड़ जाता है। परंतु यथार्थवादी तुच्छ से तुच्छ और अनावश्यक बातों का भी ऐसा विस्तृत वर्णन करता है कि कभी कभी तो उसमें अर्थगांभीर्य या चमत्कार का पता तक नहीं रहता। इस कारण प्रतीकवाद ने उसका विरोध किया। मायर्स (Myers) के मत के अनुसार तो वास्तववाद ने ही अपने नग्न, निकृष्ट और नीरस वाग्विस्तार को अधिक से अधिक अर्थगर्भित बनाने के प्रयत्न में प्रतीकवाद का रूप धारण कर लिया।* कितने वास्तववादी स्वयं प्रतीकवादी बन गए।† प्रतीकवादी जो कुछ वर्णन करता है उससे उसका वही तात्पर्य नहीं होता जो कथित शब्दों से मुख्यतया प्रतीत होता है

---

*"............and that it (Naturalism) merged into Symbolism in the attempt to wrest from the bare, sordid triviality of its detail, the maximum of significance."

† "In fact certain Naturalists themselves became symbolists."

—Later Realism.

अपितु वह उससे किसी दूसरे ही अर्थ का संकेत करता है जैसा कि अन्योक्ति आदि में किया जाता है। इसके प्रभाव के कारण यथार्थवादियों में रहस्यमय वर्णन की प्रवृत्ति हुई।

(२) प्रभाववाद का तात्पर्य यह है कि कवि जब किसी वस्तु या घटना का वर्णन करता है तो निरपेक्ष दृष्टि से नहीं, प्रत्युत वह उसपर अपने हृदय के भावों का आरोप कर देता है। वह उसका वर्णन अपने हृदय पर पड़े हुए प्रभाव के अनुसार करता है, न कि उसके वास्तविक रूप के अनुसार। काव्य लिखते समय उसकी दृष्टि प्रभाव से प्रेरित होती है, वस्तु के यथार्थ रूप से नहीं। उस प्रभाव को पाठकों के हृदय तक पहुँचाने के लिये उसे दो काम करने पड़ते हैं। एक तो उसे अपने विषयों का चुनाव करना पड़ता है; क्योंकि संसार की सभी वस्तुएँ हमारे ऊपर प्रभाव डालनेवाली नहीं होतीं। किसी वस्तु को अपना विषय बना लेने पर भी वह उसके अंग-प्रत्यंग का वर्णन नहीं करता, उसके केवल उन्हीं अंगों या गुणों को चुन लेता है जिनके द्वारा प्रभाव उत्पन्न होता है। दूसरे, उसे अपनी वर्णनशैली को भी प्रभावमयी और भावोपयुक्त बनाना पड़ता है। इस प्रभाववाद के प्रभाव से यथार्थवादियों का अपनी कृतियों में अनावश्यक कूड़ा-करकट भरना बहुत कुछ

बंद हो गया और नीरस सरलता और स्पष्टता का पीछा छोड़कर भाषा भी भावानुकूल होने लगी। इसके अतिरिक्त प्रभाववाद और प्रतीकवाद के सम्मिलित प्रभाव से यथार्थ-वाद में ऐसी बातों को भी स्थान मिला जो यथार्थ (Objective reality) की सीमा के बाहर पड़ती हैं, अर्थात् केवल कल्पना की चीज हैं।

(३) अभिव्यंजनावाद काव्य या कला को रूप देने के उद्देश्य से किसी व्यक्ति की सुंदर कल्पनाओं द्वारा आत्मा की क्रिया की अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार सच पूछिए तो वह कल्पनाप्रधान नवीनतान्वेषी (रोमैंटिक) आदर्श-वाद को ही लेकर आगे बढ़ा, क्योंकि उसमें व्यक्ति की चेतना के द्वारा ही सत्य का साक्षात्कार स्वीकार किया गया है।* अभिव्यंजनावाद के प्रभाव से, यथार्थवादी जहाँ पहले व्यक्ति को जाति के सर्वथा अधीन मानकर उसके

*"In Expressionism appears an extension of the romantic idealism of the early nineteenth century which acknowledges reality only through the conciousness of the individual"

--Later Realism.

जातिगत गुणदोष को ही प्रधानता देते थे वहाँ अब वे व्यक्तिगत विचारों और कार्यों की स्वतंत्रता स्वीकार करने लगे। उपन्यास आदि में उनके पात्रों में व्यक्तिगत विशेषताएँ और विलक्षणताएँ अधिकता से दृष्टिगोचर होने लगीं। इस विषय में शापंहर (Schopenhaur) और निट्शे (Nietzsche) के सिद्धांतों ने भी योग दिया। निट्शे का व्यक्तिवाद कहता है कि मनुष्य की उन्नति के लिये और उसमें देवत्व का विकास करने के लिये यह आवश्यक है कि समर्थ पुरुष परंपरा की रूढ़ियों से सर्वथा मुक्त होकर 'स्वस्यैव ('स्वस्य च' नहीं) प्रियमात्मनः' धर्म का अवलंबन करें, अर्थात् वे केवल अपनी ही इच्छाओं को धर्म और नियम समझें।

(४) अस्पष्टतावाद का असर भी इसी प्रकार का पड़ा। अस्पष्टतावाद तो व्यक्तिवाद की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इसका आरंभ ई० सन् १६१६ के लगभग हुआ था। परंतु इसका स्पष्ट रूप प्रथम जर्मन महायुद्ध के बाद ही प्रकट हुआ। यह वाद किसी भी नियम को स्वीकार नहीं करता और प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार देता है कि वह जब चाहे जिस प्रकार का काव्य बिना किसी नियम-पालन के लिख सकता है। यहाँ तक कि वह अपने लिये मन-

मानी भाषा भी गढ़ सकता है, चाहे उसे कोई समझे या न समझे।

सारांश यह कि यथार्थवाद जिस रूप में आदर्शवाद का विरोध करने के लिये खड़ा हुआ था, उसका वह रूप स्थायी न रह सका, क्योंकि वह न तो काव्योपयोगी विषयों के चुनाव का पक्षपाती था और न काव्योपयोगी वर्णनशैली का। 'रिनासाँ' (Renaissance, यूरप में साहित्य और कला का पुनर्जागरण-काल, ई० १४ वीं-१६ वीं शती) के अंतिम काल की तत्त्वहीन कविता जब काव्य के प्राचीन आदर्शों की झूठी नकल में प्रवृत्त हो रही थी तो नवीनतावादियों (Romanticists) ने भी विषय और रीति दोनों में प्राचीन आदर्शवाद (Classical Idealism) का विरोध किया था। परंतु उन्होंने काव्य की सार वस्तु कल्पना को माना था, इसलिये वे भी काव्य के वास्तविक स्वरूप की ठीक ठीक व्याख्या न कर सके। कुछ काल तक तो इस पक्ष की कविताओं में कविहृदय के स्वाभाविक उद्गार सीधी-सादी और सजीव भाषा में बड़े मनोहर ढंग से व्यक्त किए जाते रहे, परंतु पीछे कल्पना के बाल की खाल खींचनेवालों ने काव्य का संबंध मनुष्य के प्राकृतिक जीवन से तोड़ दिया। यथार्थवाद ने प्राचीन और नवीन

(Classical and Romantic) दोनों प्रकार के आदर्श-वाद का विरोध किया। पर वह किस प्रकार प्रतीकवाद आदि में विलीन हो गया, यह इस प्रकरण में दिखा दिया गया।

आदर्शवाद और यथार्थवाद के परस्पर विरोधी स्वरूपों के इतिहास से हमारी यह धारणा और भी पुष्ट हो जाती है कि काव्य के क्षेत्र में इनकी धींगाधींगी व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक भी है। इन दोनों में से कोई भी काव्य को अपनी परंपरा-प्राप्त संपत्ति नहीं बतला सकता। इनके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होने ही से हमें इनमें ऊपर से विरोध दिखाई देता है। अतः श्री राबर्टसन नवीनता-वाद के उद्गम की खोज करते करते अंत में जिस परिणाम पर पहुँचते हैं उसे हम भी यहाँ निस्संकोच स्वीकार कर सकते हैं—

"प्राचीनतावाद-नवीनतावाद; आदर्शवाद-यथार्थवाद; समष्टिवाद-व्यष्टिवाद; इस प्रकार के विरोधात्मक शब्द हम लोगों को बहुत प्रिय लगते हैं। परंतु (इनके संबंध में) पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विरोध मूलतः असत्य है। विचारों के विकास में इस

प्रकार के तीव्र विरोध और बिलगाव के लिये कोई स्थान नहीं है।" *

---

* "We love our antetheses : classicism-romanticism; idealism-realism; collectivism-individualism. But with fuller knowledge comes clearness that such antetheses are inherently unreal, the evolution of thought admits of no such sharp contrast ; no such hard and fast lines."

—The Genesis of Romantic theory by Robertson.

आठवाँ प्रकरण

काव्य की आलोचना (१)

पिछले प्रकरणों के अध्ययन द्वारा विरोध-बुद्धि का परिहार हो जाने पर निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि सच्चा कवि न तो कोरा आदर्शवादी होता है और न कोरा यथार्थवादी। उसके काव्य में 'आदर्श और यथार्थ का उचित सम्मिश्रण' रहता है। यदि कवि काव्य के आत्मा रस या भाव को पहचानता है तो इस उचित सम्मिश्रण के लिये उसे औंस-ड्राम की शीशियाँ लेकर बैठने की आवश्यकता नहीं। वह जब भावप्रेरित होकर काव्यरचना करने बैठता है तो उसके भावों के टिकने के लिये कल्पना स्वयं आगे आगे आधार बनाती चलती है और उसके औचित्य का निर्णय उसकी रुचि द्वारा आपसे आप होता चलता

है। भाव को प्रधानता देने से रुचि की सहायता अनिवार्य हो जाती है। रुचि में बुद्धि की क्रिया साध्य न होकर स्वयं सिद्ध रहती है। अतः एक ओर जहाँ वह (रुचि) बुद्धि की खरता और उपदेश की रुक्षता को सामने नहीं आने देती वहाँ दूसरी ओर कल्पना की अनर्गलता, नीरस रहस्य-प्रलाप अथवा दूसरों की कोरी नकल की झोंक की भी पूरी रोक-थाम करती है। भाव को एक किनारे छोड़कर केवल कल्पना या बुद्धि को प्रधानता देने से आदर्शवाद और यथार्थवाद का विरोध अवश्यंभावी है। भाव को आगे करके कवि उपदेश भी दे सकता है, कल्पना की सरपट सवारी भी कर सकता है और अ-यथार्थवादी होने के दोष से बचा भी रह सकता है।

सिद्धांततः यह सब ठीक मान लेने पर भी काव्य की आलोचना में आदर्श और यथार्थ के संबंध में समन्वय का प्रयोग किस प्रकार किया जा सकता है यह जानना अभी शेष है। इसके लिये हम दोनों के विरोधी स्वरूपों का उनकी मुख्य मुख्य विशेषताओं के अनुसार इस प्रकार विश्लेषण कर सकते हैं—

आदर्शवाद = (१) चुनाव, पूर्णता, सामंजस्य, सुव्यवस्था, परिष्कार, औचित्य तथा भूत, भविष्य एवं अव्यक्त

की ओर झुकाव + (२) क्लिष्टता, अस्वाभाविकता, अयथार्थता, धार्मिक संकीर्णता, प्रत्यक्ष उपदेश और वर्तमान जीवन से संबंधविच्छेद।

यथार्थवाद = (१) यथार्थता, स्वाभाविकता, सरलता सुस्पष्टता, मूर्तता और वर्तमान जीवन से प्रेम + (२) नीरसता, अश्लीलता, अशांति और असंतोष तथा भाव वा भाषा आदि संबंधी किसी प्रकार के परिष्कार, पूर्णता, औचित्य अथवा मर्यादा का विरोध।

दोनों में से पहले पहले और दूसरे दूसरे को एक साथ रखकर देखें तो पहला समुच्चय काव्य के गुणों के अंतर्गत आएगा और दूसरा दोषों के अंतर्गत। यदि केवल आदर्शवाद के दोषों को अलग कर लिया जाय तो उनके स्थान पर यथार्थवाद के गुणों का स्वतः आरोप हो जाता है और उसके दोषों को उठने का अवसर ही नहीं मिलता। आदर्शवाद भी 'वाद' से मुक्त होकर केवल काव्य के प्रकृत रूप में रह जाता है जिसमें यथार्थ का उचित समन्वय रहता है। आलोचना में हमें आदर्शवाद और यथार्थवाद के प्रश्न को तोड़कर काव्य के इसी शुद्ध रूप को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। ऊपर कहे हुए आदर्शवाद और यथार्थवाद संबंधी काव्य के गुण-दोष इतने प्रसिद्ध हैं कि उनका यहाँ

पृथक् पृथक् विवेचन करना अनावश्यक है। काव्य की पूर्ण समालोचना हमारा विषय नहीं है। अतः यहाँ हिंदी काव्य के कुछ सामान्य उदाहरणों को लेकर उनमें यथावसर ऐसे स्थलों का संकेत कर दिया जायगा जहाँ से विरोध की संभावना रहती है। सरलता के लिये काव्य में मुख्यतः चार बातों पर विचार करना आवश्यक है—(१) वस्तु-वर्णन, (२) भावाभिव्यक्ति, (३) चरित्र-चित्रण और (४) जीवन से संबंध।

(१) वस्तुवर्णन

काव्य में वस्तु-वर्णन के अंतर्गत किसी वस्तु, दृश्य घटना वा परिस्थिति आदि का भी वर्णन आता है। इनका वर्णन दो प्रकार से होता है। एक तो प्रकृत रूप में, जब कि कोई वस्तु स्वतः हमारे किसी स्वतंत्र भाव का विषय बनने में समर्थ होती है; और दूसरे जब कोई वस्तु किसी वस्तु के गुण-सौंदर्य की वृद्धि का हेतु होती है।

नित्यप्रति हमारे दृष्टिचक्र के भीतर आनेवाली असंख्य वस्तुएँ हमारे मन पर अनेक प्रकार के प्रभाव डालती हैं। यदि किसी रमणी का सुंदर रूप और हाव-विलास हमारे मन में रति का भाव उत्पन्न करता है तो किसी विकराल

आकृति को देखकर हृदय में भय का संचार होता है। किसी बीभत्स दृश्य को देखकर हमें घृणा होती है तो एक पूर्ण विकसित कमलपुष्प तुरंत हमारे हृदय की एक एक पँखड़ी को खिला देता है। इन चिरकाल से बद्धमूल भावों के अतिरिक्त विभिन्न वस्तुओं के साक्षात्कार से न जाने कितने प्रकार के भाव मन में जगते हैं। परंतु शुद्ध रूप में किसी वस्तु का सांगोपांग वर्णन प्रायः तभी किया जाता है जब वह वस्तु हमारे हृदय पर कोई प्रिय प्रभाव डालनेवाली होती है। जैसे बादलों के ऊपर दृष्टि पसारे हुए सोने के मुकुट-वाला हिमालय, काले काले भौंरों के भय से काँपती हुई मंजरियों से लदी आम की डाली, नींद की गोद में खेलते हुए किसी कोमल शिशु के ओठों पर की मनोहर मुसकान इत्यादि। ऐसी अवस्था में कवि को सृष्टि के विस्तृत क्षेत्र से ऐसी वस्तुओं का 'चुनाव' करना पड़ता है जिनके रूप हमें अधिक से अधिक आकर्षक प्रतीत होते हैं। ऐसी वस्तुओं की संसार में कमी नहीं है, पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनके चुनाव के विषय में हिंदी के प्राचीन कवियों की दृष्टि प्रायः बहुत दूर नहीं जा पाई है। इसका कारण है कुछ तो हमारा संसार के प्रति वह दार्शनिक दृष्टिकोण जिससे हम सांसारिक वस्तुओं के सहज सौंदर्य से आकर्षित न हो उनके

प्रति उदासीन से रहे हैं, और कुछ ऐसी परिस्थिति का अभाव जिसमें कि मनुष्य सांसारिक जीवन के संकीर्ण वायुमंडल से ऊपर उठकर विश्व के अनंत विस्तार पर अपनी चकित दृष्टि फेरता है। परंतु आधुनिक कवियों के विषय में निस्संकोच यह कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि इस विषय में वैसी संकीर्ण नहीं है जैसी पहले के कवियों की।

मनुष्य का संबंध प्रकृति से और मनुष्यमात्र से जितना ही अधिक बढ़ता जाता है उतनी ही उसकी दृष्टि विस्तृत होती जाती है। हिंदी साहित्य के आदि काल से ही देश की ऐसी अवस्था रही है कि कवियों को अपने भौगोलिक एवं प्राकृतिक ज्ञान तथा विश्व-संबंधों के। बढ़ाने के अवसर ही बहुत कम मिले। निर्गुनपंथी संतों ने तो संसार से दृष्टि ही उल्टी कर ली थी और नृपाश्रित कवियों के संसार की सीमा उनके दाता के दरबार तक ही पहुँचकर समाप्त हो जाती थी। परंतु सगुण-भक्तों ने भी अपने इष्टदेव विश्वरूप भगवान् का लीलाक्षेत्र इस विस्तृत विश्व को न बनाकर, उनका स्पर्श इसके बहुविध रूपों से न कराकर, उन्हें अपने ही सीमित विश्व के एक कोने में विचरने दिया। सूर के कृष्ण ने तीन कोस के घेरे में अघासुर, बकासुर आदि का वध तो

किया, किंतु संपर्ण भारत वसुंधरा उस समय जिन असुरों द्वारा पददलित हो रही थी उनकी चिंता उन्होंने नहीं की। गोस्वामी तुलसीदास के राम ने अवध के पूर्व में मिथिला तक और दक्षिण में लंका तक भ्रमण किया था इसी लिये उनकी दृष्टि को अधिक अवकाश मिला और वह विविधोन्मुखी हो सकी। किंतु राम के जीवन का भी जहाँ हमारे जीवन से घनिष्ठ संबंध है उन्हीं स्थलों का वर्णन काव्य की दृष्टि से सबसे अधिक रसात्मक हो सका है। जैसे राम-विवाह, राम-वन-गमन, चित्रकूट-सभा आदि के प्रसंग।

विषय-वैचित्र्य कम होने पर भी यह मानना पड़ेगा कि अपनी पहुँच के भीतर ही कवियों ने जो विषय लिए उनमें अपनी अपूव कवित्व-शक्ति और सहृदयता का परिचय दिया। जैसे सूरदास के कृष्ण की बाललीला। नरोत्तम कवि ने सुदामा के दारिद्रय तथा कृष्ण के मित्र-प्रेम का जैसा सजीव चित्र खींचा है वह भी बेजोड़ ही है। पर ऐसे मार्मिक विषय-प्रसंगों की ओर अन्य कवियों ने ध्यान प्रायः नहीं दिया है।

एक और प्रकार का स्वतंत्र वर्णन मिलता है, पर वह इस साधारण लोक के जीवन तथा अनुभवों से संबंध नहीं रखता। वह एक ऐसे दृश्य या तथ्य का वर्णन है जो साधा-

रण कल्पना की पकड़ में नहीं आ सकता, जिसका अनुभव इंद्रियातीत है। जैसे—

अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै जोति।

× × ×

कौतिग दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास।

× × ×

सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले सिंह दुआर॥

कबीरदास पहुँचे हुए संत और योगी तथा निर्गुण परमात्मा के बहुत बड़े भक्त थे। उनकी निर्गुण-साक्षात्कार की असाधारण अनुभूतियाँ मिथ्या नहीं कही जा सकतीं। परंतु उनका वर्णन करनेवाली उपर्युक्त प्रकार की उक्तियों से उनका अभीष्ट भाव-ग्रहण साक्षीभूत के लिये ही संभव है, अतः हमारी आलोचना की सामान्य कसौटी से वे श्रेष्ठ काव्य की कोटि में नहीं आतीं। योगियों के ब्रह्मलोक का वर्णन साधकों के अधिक काम का हो सकता है, काव्यरसिकों के काम का कम। निर्गुण संतों तथा एक-आध वैष्णव कवियों ने भी उस निर्द्वंद्व लोक की ओर जाने की इच्छा प्रकट की है, किंतु आधुनिक कवियों की

कल्पना एक दूसरे ही लोक में पहुँचने की चाह करने लगी है जो क्षितिज के उस पार है—

चाहता है यह पागल प्यार,
अनोखा एक नया संसार!

कलियों के उच्छ्वास शून्य में तानें एक वितान,
तुहिनकणों पर मृदु कंपन से सेज बिछा दें गान;
जहाँ सपने हों पहरेदार,
अनोखा एक नया संसार!

यह संसार तो उतना अनोखा नहीं है, हमारी सुकुमार कल्पना भी ऐसे सुखद वितान के नीचे ऐसी कोमल सेज पर मधुर सपनों की पहरेदारी में बेखटके विश्राम कर सकती है। पर कठिनता आगे बढ़ने में है; जहाँ—

मिल जावें उस पार क्षितिज के सीमा सीमाहीन,
गर्वीले नक्षत्र धरा पर लोटें होकर दीन।
उदधि हो नभ का शयनागार,
अनोखा एक नया संसार!

क्षितिज के उस पार ससीम की असीम से मिलने की अभिलाषा रहस्यवाद का चिर-परिचित विषय रही है, और जिन्हें यह तारों-जड़ा आसमान का सुंदर नीला पर्दा

उक्त मिलन में बाधक प्रतीत हुआ* वे उसे चाक कर डालने के लिये भी उद्यत रहे हैं। अतः उस नभ के नक्षत्रों को भूलुंठित कर उसे उदधि में डुबा देने की अभिलाषा भी उक्त प्रकार की कल्पना के लिये अस्वाभाविक नहीं। परंतु इस भाव-परंपरा तथा इन प्रतीकों से अपरिचय के कारण पाठकों को इनसे तादात्म्य करने में अवश्य कठिनाई होती है।

दूसरे प्रकार का जो वर्णन होता है उसमें वस्तुएँ अप्रकृत वा गौण रूप में आती हैं। कभी तो वे अलंकारों में अप्रस्तुत उपमान आदि बनकर अथवा भूमिका (Background) के रूप में किसी प्रकृत वस्तु के रूप, गुण या भाव का उत्कर्ष-साधन करने के लिये प्रस्तुत की जाती हैं और कभी अपने रूप, गुण, क्रियादि के द्वारा हमारे जीवन से सहानुभूति दिखलाती हुई पाई जाती हैं। हिंदी काव्य में अलंकारों के प्रयोग की कमी नहीं है, पर अलंकारों की योजना सुंदर तभी होती है जब वे प्रस्तुत भाव के उत्कर्ष का साधन होकर आते हैं। तुलसी, जायसी और सूर

---

* किसी किसी को वह रुद्र रूप में भी दिखाई पड़ा है—

कह रहा है आसमाँ यह सब समाँ कुछ भी नहीं।
पीस दूँगा एक गर्दिश में जहाँ कुछ भी नहीं॥

आदि कवियों में अलंकारों की ऐसी ही स्वाभाविक छटा मिलती है। किंतु प्राचीन अलंकारवादियों के प्रभाव से रीतिकाल के अधिकांश कवियों तथा कहीं कहीं उक्त महाकवियों की भी रचनाओं में अलंकारों का व्यर्थ और अरुचिकर प्रयोग पाया जाता है। ऐसे प्रयोग के लिये आचार्य कवि केशवदास की रामचंद्रिका से संदेह अलंकार का एक उदाहरण लीजिए। राम-वनवास में सीता-हरण के बाद का प्रसंग है। कहाँ तो सीता की खोज में व्याकुल अश्रुमोचन करते हुए राम की वह विरह-विह्वलता और कहाँ सुग्रीव के पास अपनी प्रिया के उत्तरीय में बँधे हुए नूपुर को देखकर उनका यह कवित्तपाठ—

पंजर की खंजरीट नैनन को किधौं मीन
मानस की केशोदास जल है कि जारु है।
अंग को कि अंगराग गेंडुआ की गलसुई
किधौं कोट जीव ही को उर को कि हारु है॥
बंधन हमारो कामकेलि को कि ताड़िबे को
ताजनो विचार को कि चमर विचारु है।
मान की जमनिका कि कंजमुख मूंदिबे को
सीता जू को उत्तरीय सब सुखसारु है॥

ऐसा मालूम होता है जैसे विरह को भूलकर राम इनाम के लोभ से पंपाधीश के सामने अपनी 'कविताई' सुना रहे हों।

अलंकार के अतिरिक्त भूमिका के रूप में भी वस्तु-वर्णन हिंदी काव्य में प्रचुर परिमाण में पाया जाता है। इस प्रकार के वर्णन से प्रकृत वस्तु के प्रभाव को बढ़ाने में बड़ी सहायता मिलती है। वे दृश्य यदि प्रकृत आलंबन से अलग करके रखे जाँय तो स्वतंत्र रूप में भी उनका महत्त्व बना रहता है। कृष्ण गाएँ चराकर ग्वालबालों की मंडली के साथ मुरली बजाते हुए घर लौट रहे हैं, इस चित्र के पीछे यदि वह मनोरम सांध्य दृश्य न होता जिसका वर्णन 'प्रियप्रवास' की प्रारंभिक पंक्तियाँ करती हैं, तो वह कभी उतना उत्कृष्ट न हो सकता जितना कि अब है। ऐसे वर्णन सर्वोत्कृष्ट कोटि के कहे जा सकते हैं।

इस प्रकार के वर्णनों में उद्दीपन के रूप में आने के कारण दुःखद और बीभत्स दृश्यों का समावेश भी अनुचित नहीं प्रतीत होता प्रत्युत वे वर्ण्य भाव का उत्कर्ष ही करनेवाले होते हैं। एक ऐसा ही दृश्य उदाहरण के लिये ले लीजिए। राजा हरिश्चंद्र कंबल ओढ़े, लाठी कंधे पर लिए, मसान पर डोम की चाकरी बजा रहे हैं। उनकी कर्तव्य-

परीक्षा हो रही है। उस समय घोर काली रात में अंधकाराच्छन्न श्मशान का अत्यंत भयानक और बीभत्स दृश्य चित्रित किया गया है। सत्यव्रत राजा के सत्यप्रेम की दृढ़ता हमारे हृदय पर पूर्ण रूप से अंकित करने के लिये इस दृश्य का पुरस्तरण स्वाभाविक ही नहीं, आवश्यक भी था। यहाँ कहा जा सकता है कि उसमें प्रेत-पिशाचों का वर्णन केवल परंपराभुक्त है, परंतु उसका मूल एक ऐसा विश्वास है जो संसार की सभी जातियों में पाया जाता है और इस कारण कवि प्रसंगवश वहाँ जो प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है उसमें उसे अपूर्व सफलता मिली है।

अब वस्तु-वर्णन के उस प्रकार पर भी थोड़ा ध्यान देना चाहिए जिसमें हमारे जीवन के व्यापार-क्षेत्र वा उससे बाहर की वस्तुएँ अपने रूप, गुण, चेष्टादि के द्वारा कभी किसी जगद्व्यापिनी सत्ता की ओर संकेत करती हैं, कभी कोई मार्मिक उपदेश देती हैं और कभी जड़ होते हुए भी वे चेतन मनुष्यों की भाँति हमारे भावों का विषय बनती हैं।

यह संसार क्या है, हम क्या हैं, इस विश्व का कर्ता कौन और कहाँ है आदि ऐसे गूढ़ रहस्य हैं जिनको समझने के लिये मनुष्यजाति आदि काल से ही अपनी संपूर्ण कल्पना एवं बुद्धि-शक्ति का प्रयोग करती आई है। बुद्धि-

व्यायाम के द्वारा इन रहस्यों का उद्घाटन करना काव्य का कर्तव्य नहीं है। काव्य का काम केवल हमारे भीतर उन रहस्यों के प्रति हमारी स्वाभाविक भावना को जगाए रखना और उद्दीप्त करना है जिसे विश्व की विभूतियों का साक्षात्कार हमारे भीतर उत्पन्न करता है। परंतु इस रहस्य-भावना को अतृप्त छोड़ देना मानव-स्वभाव के विरुद्ध है। सभी प्रश्नों का कोई निर्दिष्ट उत्तर मनुष्य अपने समाधान के लिये आप ढूढ़ लेता है और उसी पर विश्वास भी करने लगता है। एक ओर योगी अध्यात्मलोक में सूक्ष्म ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार का दावा करता है, तो दूसरी ओर स्थूल कल्पना किसी ऐस दिव्य लाक में इस विश्व के कर्ता का सिंहासन देखती है जहाँ समस्त सांसारिक वैभव एकत्र हैं और जहाँ बैठकर वह अपने विश्वसाम्राज्य का शासन करता है। परंतु जिस संसार को देखकर हमारे मन में उस कर्ता की कल्पना उठती है, उस वास्तविक संसार को छोड़कर ब्रह्मलोक या स्वर्ग, काव्य के उत्कृष्ट विषय न कभी हो सके और न हो सकते हैं। बड़े बड़े लोकप्रिय कवियों ने 'परम सत्ता' को इसी संसार की वस्तुओं के भीतर से देखा है। गोस्वामी तुलसीदास को पूर्ण ब्रह्म की वह रहस्यमय सत्ता जो 'बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना, बिनु कर कर्म

करै विधि नाना', इसी 'कर्मप्रधान विश्व' में व्यापक दिखाई पड़ी है। इसी में उसे अवतरित कर उन्होंने अपने काव्य का विषय बनाया है। जायसी पद्मावती के ही रूप में उस परम प्रिय के रूप की झलक पाते हैं जिसका प्रभाव विश्व-व्यापी है और जिसके विरह में मानो यह विश्व व्याकुल है—

बेनी छोरि वार जो झारा।
सरग पतार होइ अँधियारा॥

× × ×

जग डोलै डोलत नैनाहाँ।
उलटि अड़ार जाहिं पल माहाँ॥
जबहिं फिराहिं गगन महि बोरा।
अस वै भँवर चक्र के जोरा॥

× × ×

बिरह के आगि सूर जरि काँपा।
रातिउ दिवस फिरै ओहि तापा॥

प्रकृति के व्यापारों के साथ हमारे जीवन का बहुत कुछ साम्य है, अतः उनसे हमें बहुत से उपदेश भी मिलते हैं। अंग्रेज महाकवि शेक्सपियर (Shakespeare) की सहृदयता जिस प्रकार उपलखंडों और निर्झरों से शिक्षा

ग्रहण करती थी * उस प्रकार सहृदय मात्र कर सकते हैं। पृथिवी हमें क्षमा और सहिष्णुता का पाठ पढ़ाती है, तो विशाल भूधर कर्तव्य पर अटल रहने का उपदेश करते हैं और फलविनम्र पादप विनय की शिक्षा देते हैं। सर्प हमें ठौर देखकर कुटिल-सरल-गति होना सिखलाता है, तो मशक† हमें दुर्जनों से सावधान करता है, पिपीलिका अध्यवसाय की शिक्षा देती है और चातक उच्च कोटि के प्रेम-मार्ग में दीक्षित करता है। किंतु संपूर्ण चराचर जगत् के मार्मिक रूपों को केवल उपदेष्टा के रूप में ग्रहण करना, जैसा हिंदी के वृंद आदि कवियों ने संस्कृत नीतिकारों के ढंग पर किया है, कवि-कर्म नहीं है। इससे काव्य केवल नीति-शिक्षा या सुभाषित मात्र रह जाता है। महाकवि तुलसी-

---

* यथा...books in running brooks, Sermons in stones, and good in every thing.

—As You Like It.

† प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं
कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम्।
छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति॥

दास का भी वर्षा और शरद् ऋतु का वर्णन इसी कारण बहुत आकर्षक नहीं हो सका।

प्रायः प्रकृति की वस्तुओं का इस प्रकार का वर्णन भी मिलता है जिसमें वर्ण्य वस्तु हमारे सम्मुख उपस्थित तो होती है अपने शुद्ध और स्वतंत्र रूप में हमारे किसी भाव का आलंबन बनकर, किंतु कवि-कल्पना उतने से ही संतुष्ट न रहकर उसपर अन्य रूपों की भी कुछ न कुछ छाप डाल देती है। सच बात तो यह है कि वर्ण्य वस्तु में विचित्रता उत्पन्न करने अथवा उसकी प्रभावकता को बढ़ाने के उद्देश्य से उसके साथ अन्य रूप-गुण-क्रियाओं का विविध प्रकार से संयोग घटित करने का कवि को पूर्ण अधिकार है। परंतु जब कवि का उद्देश्य विचित्रता उत्पन्न करना होता है तो कभी कभी निसर्ग-सुंदर वस्तुओं की अपनी स्वतंत्र प्रभावकता में कुछ अंतर पड़ जाता है। एक उदाहरण लीजिए—

ओ गौरव गिरि उच्च उदार।

तुझ पर ऊँचे ऊँचे झाड़
तने पत्रमय छत्र, पहाड़!
क्या अपूर्व है तेरी आड़,

करते हैं बहु जीव विहार।
ओ गौरव गिरि उच्च उदार॥

फिर कर तेरे चारों ओर
करते हैं घन क्या ही रोर,
नाच नाच गाते हैं मोर,
उठती है गहरी गुंजार।
ओ गौरव गिरि उच्च उदार॥

कितना सुंदर वर्णन है! कितना सरल और कितना स्वाभाविक! इसके आगे की पंक्तियाँ भी सुंदर हैं—

नहलाती है नभ की वृष्टि,
अंग पोंछती आतप सृष्टि,
करता है शशि शीतल वृष्टि,
देता है ऋतुपति शृंगार,
ओ गौरव गिरि, उच्च उदार!

पर कुछ अंतर पड़ गया है। यद्यपि नहलाने और अंग पोंछनेवाले मेघ और सूर्य उस उदार गिरि के गौरव के सर्वथा अनुरूप ही हैं, पर 'नहलाना' 'अंग पोंछना' आदि क्रियाओं की उत्प्रेक्षा मात्र से जो चित्र सामने उपस्थित होता है वह उस गिरि के सौंदर्य की प्राकृतिक प्रभावोत्पादकता में कुछ बाधा पहुँचाने के लिये पर्याप्त है। उस चित्र में गिरि की

अपनी शोभा की अपेक्षा कवि की कल्पना का रंग अधिक है ।

मानव-हृदय का प्रभाव प्रकृति की अन्य वस्तुओं पर किस प्रकार पड़ा करता है यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है जब हम एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न भावों का व्यंजक पाते हैं। काले बादलों का गरजना सुनकर विरहाकुल राम कहते हैं—

घन घमंड नभ गरजत घोरा ।
प्रियाहीन डरपत मन मोरा ।।

पर यदि उसी समय उनकी बिछुड़ी हुई प्रिया मिल जाती तो अवश्य ही उनका मन-मयूर नाचे बिना न रहता, भयावने मेघ विवाहकाल के बाजे बन जाते ।

भावुकता और कल्पना हमारे हृदय के संबंध से तुच्छ और नीरस वस्तुओं को भी सरस और आकर्षक बना देती हैं। इसी कारण 'एक तिनका' और 'स्याही की बूँद' पर भी कविता लिखी जा सकती है। परंतु यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि अपनी नई सूझ दिखाने के उद्देश्य से मेज, कुर्सी, कोट आदि को ही पाठकों के सामने रखना 'कवित्व' नहीं है ।

(२) भावाभिव्यक्ति

भावों के संबंध में इतनी बातों पर हमें विचार करना है—भावों की अनेकरूपता, भावातिरेक, भावसामंजस्य और भावों की वास्तविकता (Sincerity)।

कवि के विशाल हृदय में समस्त संसार की वस्तुओं के लिये जगह होती है। उन सबके प्रति जो सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव मन में उठते हैं उनकी ओर यदि उसकी दृष्टि नहीं जा सकती और यदि वह हमारे हृदय के कोने कोने में झाँक-कर वहाँ प्रकाश नहीं डाल सकता, तो उसकी कल्पना रूप-निर्माण में अत्यंत पटु होने पर भी वह महाकवि कहलाने का अधिकारी नहीं। ऐसे समर्थ प्रतिभाशाली कवि तो साहित्य में एक आध ही होते हैं। हिंदी में केवल गोस्वामी तुलसीदास ऐसे महाकवि हुए हैं जो यद्यपि मानवजीवन के व्यापारक्षेत्र के बाहर तो बहुत कम गए हैं, किंतु मानवहृदय में उठनेवाले विविध प्रकार के भावों पर जिनका पूर्ण अधिकार है। भावों के वे सम्राट् हैं।

एक ही भाव की अनेक सूक्ष्म विवृतियों का अनुभव भी कवि को विशेषता प्रदान कर सकता है। संस्कृत के श्रेष्ठ कवि भवभूति का 'उत्तर-रामचरित' करुण रस की विवृति के लिये प्रसिद्ध है। हिंदी में भक्तवर सूरदास ने

गोपियों के विरह की जो विवृति दिखलाई है वह अपूर्व है। 'प्रसाद' जी का 'आँसू' भी विरह-वेदना की विवृति ही है।

भावातिरेक इससे भिन्न वस्तु है। यद्यपि कुछ ही भाव ऐसे होते हैं जो पूर्ण रसदशा को प्राप्त हो सकते हैं, पर उनमें से भी किसी एक ही रस में बहुत अधिक गोता लगाने से हृदय को जुकाम हो जा सकता है और हमारी आस्वादन-शक्ति कुंठित हो जा सकती है। इसलिये किसी रस में पाठक को उतना ही डुबाना अच्छा है कि व्याकुलता का अनुभव करने के पहले ही वह किनारे आ जाय। मनुष्य न केवल अत्यंत हँसना ही चाहता है और न अत्यंत रोना ही। हृदय का स्वास्थ्य दोनों के सामंजस्य से ही ठीक रह सकता है। इसी लिये भारतीय महाकाव्य बीच बीच में चाहे कितने ही उद्वेगकर हों, पर उनका अंत शांति और विश्राम में ही होता है। यदि कहा जाय कि साधारण रीति से मनुष्य के जीवन में शांति और विश्राम तो दुर्लभ ही है अतः यह अस्वाभाविक है, तो हम यह कहेंगे कि संसार में केवल अत्याचार, युद्ध और रोना ही रोना भी तो नहीं है।

भावों की वास्तविकता के विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि भावों की नकल नहीं की ज़ा सकती। इसी

लिये साहित्यशास्त्र द्वारा बताए हुए सभी साधन एकत्र कर लेने पर भी सच्ची कविता तब तक नहीं बन सकती जब तक स्वयं कवि का हृदय उन भावों से तरंगित न हुआ हो जिनका अनुभव वह हमें कराना चाहता है। आत्मव्यंजक (Subjective) और लोकविषयक (Objective) दोनों प्रकार के काव्यों का प्राण स्वानुभूति ही है। कोरे रीतिवादियों, अव्यक्त-प्रेमियों और कल्पना के कलाबाजों की कविता जो हृदयग्राहिणी नहीं होती उसका कारण यही है कि वे कवि की कला को एक बाहरी चीज समझकर उसे केवल काव्यगत वस्तु वा वर्णनशैली में ढूँढ़ते हैं।

नवाँ प्रकरण

काव्य की आलोचना (२)

(३) चरित्रचित्रण

नाटक और उपन्यास में चरित्रचित्रण एक महत्त्वपूर्ण विषय समझा जाता है। यहाँ यद्यपि हमने उदाहरण नाटक या उपन्यास से न लेकर पद्यकाव्यों से लिए हैं, किंतु चरित्र-चित्रण के जो मूल सिद्धांत हैं वे सर्वत्र समान रूप से घटाए जा सकते हैं। यहाँ जो उदाहरण उपस्थित किए जायँगे वे रामचरित-मानस, पद्मावत, प्रियप्रवास और साकेत, इन प्रसिद्ध प्रबंधकाव्यों से लिए जायँगे।

चरित्रचित्रण के दो मुख्य भेद किए जा सकते हैं। एक प्रकार का चरित्रचित्रण वह है जिसमें कवि अपनी भावना

के अनुसार किसी चरित्र को अत्यंत पूर्ण स्वरूप दे देता है और यथासंभव उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं रहने देता। दूसरे प्रकार के चरित्र वैसे ही चित्रित किए जाते हैं जैसे हम उन्हें संसार में नित्य देखा करते हैं। पहले को हम आदर्श चरित्र (Ideal character) कह सकते हैं और दूसरे को यथार्थ (real)।

अब प्रश्न यह है कि कवि को इन दोनों में से किसे अपनाना चाहिए। इसका निश्चय करने के लिये दोनों प्रकार के चरित्रों पर थोड़ा और ध्यान देकर विचार करना चाहिए। पहले 'यथार्थ' को लीजिए। जिस प्रकार संसार के करोड़ों मनुष्यों में समान रूप से सभी के वही आँख-कान आदि होने पर भी किसी एक व्यक्ति की मुखार दूसरे के बिलकुल समान नहीं होती उसी प्रकार सबके चरित्रों में भी बहुत बातों में समानता होने पर भी किसी एक का चरित्र दूसरे के बिलकुल समान नहीं होता। अतः यथार्थ चरित्र उतने ही प्रकार के हो सकते हैं जितने संसार में मनुष्य हैं। उनके वैचित्र्य का अंत नहीं। यदि काव्य में केवल यथार्थ चित्रण को ही स्थान दिया जाय तो हमें मानवस्वभाव की विचित्रताएँ खूब देखने को मिल सकती हैं। परंतु दोष इस प्रकार के चित्रण में यह है कि यदि यथार्थ के नाम पर

कवि शुद्ध काल्पनिक और अत्यंत विलक्षण तथा असंभव चरित्र भी हमारे सामने रखे तो हम उससे यह नहीं कह सकते कि ऐसे चरित्र तो संसार में नहीं होते। कोरे काल्पनिक चरित्रों की भी स्वाभाविकता वह मनोविज्ञान की सहायता से सिद्ध करने लगेगा और हम विश्वास न करते हुए भी उसे सर्वथा अस्वीकार न कर सकेंगे। दूसरी बात यह है कि यदि हम उनकी यथार्थता स्वीकार भी करें तो क्या काव्य में चरित्रचित्रण केवल वैचित्र्य-प्रदर्शन (Variety show) के लिये ही होता है? क्या वह कोई मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला है? यदि नहीं, तो यथार्थ चित्रण को एकांत क्या, प्रधान स्थान भी नहीं दिया जा सकता। हाँ, गौण रूप में उसकी आवश्यकता अनिवार्य है, यह आदर्श चरित्र की व्याख्या से स्पष्ट हो जायगा।

आदर्श चरित्र दो प्रकार के होते हैं। एक तो लोकादर्श, जिसमें जातीय, राष्ट्रीय, सामाजिक एवं धार्मिक विचारों का समन्वय अधिक से अधिक पूर्ण रूप में होता है; और दूसरा ऐकांतिक आदर्श, जिसमें उक्त प्रकार के समन्वय अथवा लौकिक औचित्य की भावना गौण हो जाती है और कोई एक भाव पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया जाता है। ऐसे चरित्र धर्म के आदर्श भी हो सकते हैं और

पाप के भी। वे कहीं तो लोकादार्श का, जो कि काव्य का नायक होता है, महत्त्व बढ़ाने के लिये आते हैं और कहीं स्वतंत्र नायक के रूप में। जायसी के पद्मावत का नायक रतनसेन प्रेम के ऐकांतिक आदर्श के रूप में चित्रित हुआ है। इसी से उसके चरित्र में मर्यादा-पालन का ध्यान नहीं रखा गया है। वह पद्मावती के लिये अपनी विवाहिता पत्नी को छोड़कर 'जोगी' हो जाता है और फिर सिंहल-गढ़ में जाकर सेंध लगाता है।

रामचरितमानस में सीता, भरत और हनुमान् क्रमशः पातिव्रत, भ्रातृभक्ति और सेवाभाव के ऐकांतिक आदर्श हैं, और रावण तो मूर्तिमान अत्याचार ही है। सीता राम के समझाने और कौशल्या तथा दशरथ आदि के अनुनय-विनय करने पर भी अपना ही हठ रखती हैं; भरत माता-पिता के आदर्श आज्ञापालक राम के भाई होकर भी, अपने पिता दशरथ और माता कैकेयी की आज्ञा नहीं मानते, गुरु वशिष्ठ की आज्ञा भी टाल देते हैं; अयोध्या से सैकड़ों मील दूर रहनेवाले हनुमान् मातापिता, घरबार सबको छोड़कर 'तापस' राम के लिये समुद्र, पहाड़ और जंगलों की खाक छानते फिरते हैं, और उनके अयोध्या लौटने पर भी घर न जाकर वे राजा राम के चरण-सेवक

ही बने रहते हैं। परंतु इन बातों के लिये कोई इन लोगों पर आक्षेप नहीं करता। इसका कारण यही है कि वे आदर्श लोकनायक मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के भक्त हैं, उनके द्वारा राम के चरित्र का उत्कर्ष-साधन होता है। संपूर्ण पृथ्वी को अपने पाप-ताप से पीड़ित करनेवाला रावण तो राम के हाथ से मृत्यु पाकर उनके चरित्र को सबसे अधिक उज्ज्वलता प्रदान करनेवाला है।

राम का चरित्र लोकादर्श चरित्र है। आरंभिक प्रकरणों में इस प्रकार के आदर्श की विस्तृत व्याख्या की जा चुकी है। ऐसे ही आदर्श मानव-सभ्यता के उत्कर्ष के द्योतक और पथभ्रष्ट पतित समाज को हाथ देनेवाले होते हैं। ऐसे ही आदर्शों को नायक का स्थान देने से महाकाव्यों का इतना अधिक महत्त्व है। अतः काव्य में लोकादर्श चरित्र को ही सर्वश्रेष्ठ पद दिया जाना चाहिए। ऐकांतिक आदर्श महाकाव्य में लोकादर्श नायक के चरित्रोत्कर्ष के उद्देश्य से प्रस्तुत किए जा सकते हैं, चाहे वे उसके प्रतिद्वंद्वी बनकर आएँ अथवा सहायक होकर। सहायक चरित्र खंड-काव्य के नायक भी हो सकते हैं।

लोकादर्श चरित्र का विकास जिन परिस्थितियों के बीच में से होता है वे हमारे लौकिक जीवन की ही परि-

स्थितियाँ होती हैं। यदि लौकिक जीवन की सच्ची आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से दूर ही दूर रहे तब तो वह लोकादर्श हो ही नहीं सकता। इसलिये उन परिस्थितियों, आवश्यकताओं और आकांक्षाओं का सच्चा प्रतिनिधित्व करनेवाले चरित्रों की भी आवश्यकता निर्विवाद है। यथार्थ चरित्र (Real character) उसी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। रामचरितमानस में हम दशरथ, कैकेयी, लक्ष्मण, मुनि, मंत्री, निषाद आदि को इसी श्रेणी में रख सकते हैं।

आधुनिक यथार्थवादी को जो सबसे अधिक खटकनेवाली बातें रह जाती हैं वे हैं देवों और असुरों की कल्पना और राम का ब्रह्म का अवतार होना। देवासुर-कल्पना के लिये तुलसीदास जी को दोष नहीं दिया जा सकता। उनके अस्तित्व, रूप, गुण एवं कार्यों में सैकड़ों वर्ष पहले से हिंदू जाति विश्वास करती आ रही थी और उनके प्रति लोगों के हृदय में विभिन्न प्रकार के भाव बद्धमूल हो गए थे। सभी अमूर्त भावों और विचारों को मूर्त रूप में देखना हिंदू जाति का स्वभाव हो गया था। जब राग-रागिनियों तक के स्पष्ट चित्र बना लिए गए थे तो फिर उन अदृश्य शक्तियों को वे कैसे अगोचर रहने दे सकते थे जो न जाने क्यों अवसर-कुअवसर हमारे कार्यों में हस्तक्षेप किया करती

हैं और जिन्हें लोग प्रायः 'दैव' या 'नियति' (chance, fate or destiny) कहा करते हैं। वे ही शक्तियाँ भिन्न-भिन्न देवों और असुरों के रूप में बहुत प्राचीन काल में ही कल्पित की गई जान पड़ती हैं। परंतु यह अवश्य कहना पड़ेगा कि उन्हें बहुत अधिक अधिकार दे देना एक प्रकार से मनुष्य की इच्छा-शक्ति और कर्मस्वातंत्र्य को सर्वथा अस्वीकार करना है। देवताओं के ही षड्यंत्र से मंथरा और कैकेयी की मति भ्रष्ट हुई और राम वन गए, फिर इन दोनों को कौन दोषी ठहरा सकता है? इसी प्रकार जब घटनाओं के बीच बीच में स्पष्ट रूप से यह कह दिया जाता है कि 'राम तो ब्रह्म के अवतार हैं, सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही हैं, उनके लिये असंभव क्या है?' तो राम के मानवीय चरित्र के मूल्यांकन में बहुत बड़ा व्याघात पड़ता है। उनके पुरुषाथ का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। यही कारण है कि रामचरितमानस के राम हिंदू जनता के परम पूजनीय प्राणस्वरूप तो बने, किंतु कर्मवीर होकर भी उन्होंने उसकी अकर्मण्यता दूर नहीं की। हिंदू जाति अपनी रक्षा के लिये उनका नाम तो जप सकती है, पर वे नरतनुधारी होने पर भी भगवान् हैं इसलिये उनके गुण-कार्यों का अनुकरण करने में वह अपने को असमर्थ

पाती है। यथार्थवादी दृष्टि से राम अपने गुणों और कार्यों के द्वारा स्वयं अवतार सिद्ध हो सकते थे, उन्हें अवतार कहकर याद दिलाने की आवश्यकता न थी।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि राम के चरित्रचित्रण में ये दोष राम के चरित्र को मानवचरित्र मानने के ही कारण दृष्टिगत होते हैं। कवि की दृष्टि से वस्तुतः न राम मानव हैं, न उनका चरित्र मानव का चरित्र। वे तो पूर्ण ब्रह्म ही हैं, मानव का शरीर धारण कर मानव के समान आचरण करते हैं। ब्रह्म या भगवान् कुछ है या नहीं, उसकी भक्ति स्वाभाविक है या अस्वाभाविक, मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है या पराधीन—ये गंभीर प्रश्न दार्शनिक आलोचना के विषय हैं, काव्य और उसकी समालोचना का प्रयोजन तो लोक में इनके संबंध में प्रचलित विश्वासों और परंपराओं से ही है। कवि को चरित्रचित्रण में इन विश्वासों और परंपराओं का ही अनुसरण करना पड़ता है, और यदि वह ऐसा करता है तो अयथार्थ चित्रण का दोषी नहीं है, और चाहे जो दोष उसे दिया जाय।

हिंदू जनता के हृदय में राम और कृष्ण ने अपने लौकिक और अलौकिक गुणों के कारण इतना दृढ़ स्थान

बना लिया है कि उसके लिये मानवता का कोई दूसरा सामान्य आदर्श शीघ्र उतना प्रिय नहीं हो सकता। इसी से अब भी कविजन उन्हीं के गुणगान से अपनी लेखनी को कृतकृत्य करते हैं। 'साकेत' में भी राम के प्रति ईश्वरत्व का वह पूज्य भाव बना हुआ है। उसमें भी वे अखिलेश के अवतार ही हैं। परंतु उनकी लीला शुद्ध नरलीला है, उसमें देवों और असुरों का प्रपंच नहीं। 'साकेत' में रामचरितमानस के प्रायः सभी ऐसे प्रसंग छोड़ दिए गए हैं जिनपर बुद्धिवाद का आक्षेप हो सकता है, और सभी चरित्रों पर नवीन प्रकाश डाला गया है। इससे रामचरित नवयुग के लोगों के लिये भी अनुशीलन के योग्य बन गया है। किंतु 'साकेत' के राम और रामचरितमानस के राम में यह अंतर होने पर भी साकेत के राम आधुनिक युग के लोकादर्श के रूप में नहीं आए हैं।

'प्रियप्रवास' के कर्ता ने अपना दृष्टिकोण बदलने में बहुत सफलता पाई है, क्योंकि एक तो उन्होंने अपने काव्य के लिये कृष्ण को चुना है जिनका जीवन हमारे जीवन के अधिक निकट प्रतीत होता है, और दूसरे उनके जीवन का जितना अंश प्रसंग से लिया है उसमें की अविश्वसनीय घटनाओं को छोड़ न देकर उन्हें अर्थवाद के सहारे यथार्थ

और विश्वसनीय बनाने का प्रयत्न किया है। उसमें कृष्ण का चरित्र भगवान् का चरित्र नहीं, मानव का ही चरित्र है। असुरवध, कालीदमन, गोवर्द्धनधारण आदि लीलाओं को कवि ने हमारे जीवन की सामान्य घटनाएँ बना दिया है और गोपियों के मर्यादाहीन ऐकांतिक प्रेम को भी लोक-सेवा के रूप में परिणत करके उसे बहुत कुछ लोकमर्यादा में बाँध दिया है। परंतु प्रियप्रवास के कृष्ण का चरित्र अपूर्ण है, उसमें कृष्ण के प्रवास का ही वर्णन है। इस कारण वे 'महाकाव्य' के लोकादर्श नायक नहीं हो सकते।

(४) जीवन से संबंध

बहुत प्राचीन काल में ही प्रायः सभी समाजों ने सत्य, अहिंसा, दान, दया, पातिव्रत, पितृभक्ति इत्यादि अनेक गुणों को धर्म बतलाया था और इन गुणों से संपन्न मनुष्यों को प्रशंसनीय तथा इनके विरुद्ध आचरण करनेवालों को दंडनीय ठहराया था। सर्वसाधारण में इस प्रकार धर्म के प्रति श्रद्धा और अधर्म के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न किया गया था और उसे दृढ़ करने के लिये इस लोक और परलोक में धर्मात्मा को पुरस्कार और पापी को दंड मिलना एक ईश्वरीय नियम समझा गया था। स्वर्ग और नरक का भय भी इसी प्रकार उत्पन्न हुआ था। धीरे धीरे लोगों के हृदयों

में इसका ऐसा संस्कार जम गया कि वे कवि की कृतियों में भी धर्म की जय और अधर्म की पराजय देखने के अभ्यासी हो गए। कविजन भी अपने काव्यों में ऐसे ही आदर्श समाज का चित्र खींचने लगे जिसमें जनता की उक्त मनोवृत्ति को संतोष मिले। यद्यपि लोक में इस धर्म-भावना की सर्वथा तृप्ति नहीं होती तथापि कवि की सृष्टि में ऐसा न होना दोष समझा जाने लगा। यह स्थूल धर्म-भावना लोकरुचि का अंग बनकर व्यक्तिगत मनोवृत्तियों का नियंत्रण करने लगी। यही कारण है कि यद्यपि हम साधारण रूप से पुरुष को स्त्री के रति-भाव का आलंबन समझते हैं, परंतु यदि कोई कवि किसी धार्मिक गृहस्थ की पत्नी को किसी परपुरुष के विरह में व्याकुल दिखलावे तो हमारी रुचि, जिसमें लोकरुचि और व्यक्तिगत रुचि का एकीभाव हो गया है, उसे बुरा कहेगी। इसी प्रकार समाज की जातीय, राष्ट्रीय अथवा अन्य भावनाएँ भी हमारी व्यक्तिगत रुचि का परिष्कार करती हैं।

समाज के जीवन संबंधी सिद्धांत जब काल पाकर इतने स्थूल हो जाते हैं कि जीवन के विकास की गति का साथ नहीं दे सकते, अथवा इतने संकीर्ण हो जाते हैं कि व्यक्ति का विश्व-समाज से संबंध स्थापित करने में बाधक होते

हैं, तो नए कवि उनको अधिक व्यापक स्वरूप देकर जीवन से उनका संबंध स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार कवियों की कृतियों में प्राचीन, नवीन अथवा मध्य प्रवृत्ति के अनुसार समाज के भिन्न भिन्न आदर्श दिखाई पड़ते हैं। ऐसे समय में जब तक कोई सर्वमान्य निश्चित आदर्श स्थापित नहीं हो जाता तब तक प्राचीनता और नवीनता का संघर्ष चला करता है। इस परिवर्तन-काल में प्रायः असंतोष और अतृप्तिसूचक बड़ी मनोहर आत्म-व्यंजिनी (Subjective) कविताएँ देखने में आती हैं। अंग्रेज कवि शेली और वर्ड्सवर्थ (Shelley, Wordsworth) की कविताओं में जो व्यापक असंतोष की भावना है, उमरखैयाम की रुबाइयों में जिस अतृप्ति का साम्राज्य है, वह हिंदी के प्रायः सभी प्रसिद्ध नवीन कवियों की रचनाओं में भी विद्यमान है। यह असंतोष प्रायः समाज की उस परिस्थिति से उत्पन्न होता है जिसमें संकीर्ण धार्मिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक नियमों और प्रतिबंधों के द्वारा कोई समाज अन्य समाजों अथवा अपने व्यक्तियों की स्वतंत्रता का अपहरण करता है। पर ऐसी व्यक्तिगत कविताएँ उसी अंश तक हृदयहारिणी होती हैं जहाँ तक कवि के असंतोष की अनुभूति में सचाई होती

है और समाज के अन्य व्यक्ति भी उसका तीव्र अनुभव कर सकते हैं। इसी कारण अधिकांश कविताएँ जिनमें केवल संकीर्ण व्यक्तिगत वासनाओं का प्राधान्य होता है, श्रेष्ठ नहीं समझी जातीं।

'साकेत' और 'प्रियप्रवास' के कर्ता समाज के उन धीरप्रकृति प्रतिनिधियों में से हैं जिनके द्वारा समाज की प्राचीन संस्कृति की रक्षा होती है, पर जो विकास के विरोधी नहीं होते। दोनों कवियों ने अपने अपने ढंग से समाज के प्राचीन आदर्शों को वर्तमान जीवन से संबद्ध करने का प्रयत्न किया है। वे वर्तमान युग का पूर्ण सफलता के साथ प्रतिनिधित्व न कर सके हों, यह बात दूसरी है। परंतु ऐसे समय में, जब कि नित्यप्रति जीवन में नए नए परिवर्तन हो रहे हैं और समाज का भविष्य अस्पष्ट है, ऐसा करना अत्यंत कठिन भी है।

उपसंहार

कोई सोया हुआ समाज जब जागता है तो उसका प्रत्येक अंग जाग पड़ता है। फिर उसके सबसे जीवित अंग साहित्य में यदि जागर्ति के लक्षण न दिखाई दें तो यह आश्चर्य की बात होगी। अतः अधुनिक हिंदी साहित्य में लक्षित होनेवाली सचेष्टता भी स्वाभाविक है। इस समय हमारे साहित्य में शीघ्रता के साथ परिवर्तन हो रहा है और उसका निर्माण नए सिरे से हो रहा है। मर्मज्ञ लोग जानते हैं कि हिंदी साहित्य में वह स्वाभाविक क्षमता विद्यमान है जो किसी साहित्य को विश्व में आदर का स्थान दिला सकती है; और उससे परिचय रखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति यह स्वीकार करता है कि उसका भविष्य उज्ज्वल और सुखद है। इसलिये यह परिवर्तन अशुभ-सूचक नहीं है।

परंतु परिवर्तन के प्रवाह में उसकी वह स्वाभाविक क्षमता बह न जाने पावे, इस हेतु हमारी दृष्टि सदा विचारपूर्ण समन्वय को ओर रहनी चाहिए। अतः अंत में हिंदी साहित्य के हित की दृष्टि से यह शुभाशा प्रकट करना अनुचित न होगा कि हमारे कवि और समालोचक काव्य के क्षेत्र में विरोधिनी प्रवृत्तियों को भविष्य में न फूलने-फलने देने के लिये इस नवजागरण काल में उन्हें निर्मूल कर देने के हेतु सचेष्ट रहेंगे।

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

समालोचना

काव्य का अध्ययन तीन प्रकार का होता है—एक तो साधारण रसिक की भाँति, दूसरा व्याख्याकार की भाँति और तीसरा आचार्य की भाँति। साधारण काव्यरसिक कोई काव्य किसी विशेष उद्देश्य को लेकर नहीं पढ़ता। वह उसका अध्ययन इस दृष्टि से करता है कि उसका अर्थ समझकर वह उसका पूरा पूरा रस ले सके। व्याख्याकार का अध्ययन और गहरा होता है। वह किसी विशेष काव्यग्रंथ पर अपना इतना अधिकार कर लेना चाहता है कि वह उसकी ऐसी स्पष्ट व्याख्या कर सके जिससे सामान्य पाठक से लेकर अच्छे अच्छे विद्वानों तक को

उसके तत्त्व के संबंध में अधिक से अधिक जानकारी अधिक से अधिक सुगमतापूर्वक हो जाय।

आचार्य का पद सबसे ऊँचा है। वह व्याख्याकार से और आगे बढ़कर काव्यमात्र का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। वह किसी साहित्य के प्राप्य वा प्रस्तुत काव्यों का गंभीर अनुशीलन करके ऐसे सामान्य नियमों का प्रतिष्ठापन करता है जिन्हें काव्यमात्र पर घटित किया जा सके। और अधिक स्पष्ट रूप में कहें तो वह काव्यमात्र के स्वरूप, कारण, फल, भेद, गुण, दोष आदि का विशद विवेचन करता है। कवि काव्य का कर्ता है, तो व्याख्याकार उसका विशेषज्ञ और साहित्याचार्य उसका वैज्ञानिक। उपयोगिता के विचार से देखा जाय तो व्याख्याकार मुख्यतः पाठकों का उपकारी है और आचार्य, व्याख्याकार तथा बहुत अंशों में कवि का भी।

कवि-मानस से प्रवाहित होनेवाली कविता-मंदाकिनी में अवगाहन करनेवाले उक्त तीन प्रकार के श्रद्धालुओं में हम देखना चाहते हैं कि आधुनिक समालोचक का क्या स्थान है। आजकल के व्याख्याकार या तो वे लोग हैं जो विद्यालयों की पाठ्य पुस्तकों के 'नोट'-कार हैं अथवा वे टीकाकारगण जो व्रजभाषा या अवधी का खड़ीबोली

में रूपांतर कर दिया करते हैं। आचार्य का स्थान समालोचक ने ले रखा है।

संस्कृत साहित्य में मल्लिनाथ आदि* की व्याख्याओं को देखने से पता चलता है कि उनका कार्य द्विमुख होता था। उनकी व्याख्याएं प्रायः शब्दशः अर्थोद्घाटन का भी काम करती हैं और निर्णयात्मक समालोचना (Judicial criticism) का भी। आधुनिक समालोचक की दृष्टि में न तो टीका का ही अधिक महत्त्व है और न निर्णयात्मक समालोचना का। अतः एक प्रकार से व्याख्याकार का कोई मुख्य स्थान आधुनिक साहित्य में नहीं है। कवि और समालोचक दोनों ही काव्य की व्याख्या अनावश्यक समझते हैं, वे उसे केवल पाठकों की स्वतंत्र बुद्धि पर छोड़ देना चाहते हैं। यह इस दृष्टि से अवश्य ठीक है कि अनेक प्रकार की टीकाओं और समालोचनाओं से पाठक को भ्रम में डालकर उसका विचारस्वातंत्र्य नष्ट न किया जाय। परंतु पाठक के विचारस्वातंत्र्य की रक्षा का यह उपाय न्यायसंगत नहीं है। स्वतंत्र विचार का अभ्यास अन्य

---

* मेघदूत, शिशुपालवध पर मल्लिनाथी टीका; अभिज्ञान-शाकुंतल पर राघव भट्ट की टीका, इत्यादि।

प्रकार से भी कराया जा सकता है। व्याख्या से घबराने से तो कवि और समालोचक दोनों की असमर्थता बोधित होती है। ध्यान रहे कि साधारण पाठक, जिसके लिये ही वस्तुतः सामान्य रूप से कवि रचना करता है, स्वभावतः गंभीर अर्थानुसंधान का परिश्रम नहीं उठाना चाहता, और न प्रत्येक दशा में उसकी योग्यता ही इस कार्य के लिये पर्याप्त होती है। अतः उसके लिये काव्य की निष्पक्ष टीका और व्याख्या का महत्त्व सदैव बना रहेगा। यह दूसरी बात है कि इससे व्याख्याकार का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता है।

अच्छा, अब समालोचना की प्रगति पर ध्यान देना चाहिए। समालोचक यों तो जैसा पहले कहा जा चुका है, आचार्यस्थानीय है, परंतु पुराने आचार्यग्रंथों और आजकल की समालोचनाओं या समालोचनात्मक लेखों को देखने से दोनों का अंतर स्पष्ट दिखाई पड़ जाता है। हिंदी के केशवदास आदि आचार्यों ने साहित्यशास्त्र की परंपरा संस्कृत से ग्रहण की थी। संस्कृत के भी पिछले आचार्यों का अध्ययन परंपरानुरूप ही था। उनके काव्य, रस, अलंकार आदि के लक्षण, भेद और उदाहरणादि को देखने से पता चलता है कि वे स्वतंत्र अध्ययन की अपेक्षा

शास्त्र की परिपाटी की रक्षा करना अधिक आवश्यक समझते थे। उनका ध्यान शास्त्र पर अधिक था, काव्य पर कम। इसका फल यह हुआ कि उनके प्रभाव से कवियों में दिमागी कसरत की चाल अधिक बढ़ गई और कोमल कविहृदयों का उत्साह मरता ही गया। कवि-यश के भागी केवल वे ही लोग होने लगे जो आचार्यों की ही पीटी सड़क पर चल सकते थे। लोग यह समझने लगे कि साहित्यशास्त्र के अध्ययन और उसके नियमों के यथातथ्य पालन के बिना कोई कवि हो ही नहीं सकता; इस बात पर ध्यान न दिया कि आरंभ में तो पहले-पहल कवि ही उत्पन्न था और आचार्य के जन्म का वही कारण हुआ। स्वतंत्र कवि-प्रतिभा सूखे शास्त्र का शासन स्वभावतः सहन नहीं कर सकती। यही कारण है कि आजकल के अनेक कवियों में प्राचीन आचार्यों के प्रति इतना प्रबल विद्रोह-भाव दिखाई पड़ता है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि आचार्य किसी कवि या काव्य-विशेष का ही समालोचक न बनकर काव्य संबंधी सामान्य सिद्धांतों का अध्ययन और नियमन करता था। प्रायः उसी के अनुशासन में अर्थात् उसी के द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार विशेष आलोचना का कार्य व्याख्याकार

किया करता था, जो अपने आलोच्य काव्य के विषय में रस, अलंकार आदि का यथास्थान निर्देश कर दिया करता था। आधुनिक समालोचक का कार्य आचार्य और व्याख्याकार दोनों से भिन्न है। वह न तो साहित्यशास्त्र के सिद्धांतों और नियमों की पूरी विवेचना करता है और न किसी काव्य का अक्षरशः अध्ययन करके उसमें रस, अलंकार आदि का निर्देश करता है। हिंदी में बिहारी का अवश्य व्याख्यात्मक अध्ययन हुआ है, पर वह पुरानी शैली के लोगों द्वारा। आधुनिक समालोचक कभी ऐसा काम हाथ में न लेगा।

आधुनिक समालोचना में एक ओर तो प्राचीन शैली का विरोध और दूसरी ओर काव्यालोचन संबंधी विदेशी धारणाओं तथा पद्धतियों का स्वागत स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। नवीन आलोचक प्राचीन शैली की ओर मुड़कर देखना नहीं चाहते, वे उसमें कुछ तथ्य नहीं समझते। उनमें लच्छेदार भाषा का प्राचुर्य और नवीनता की खोज का आग्रह अधिक दिखाई पड़ता है। प्राचीनों के समर्थक अनुभाव-विभाव, लक्षणा-व्यंजना और छंद-अलंकार का चमत्कार छोड़ नहीं सकते, रबड़ छंद और पर्दे के उस पार के मिलन का सुनहला स्वप्न उन्हें पसंद नहीं। ऐसी खींचा-

तानी में कहने की आवश्यकता नहीं कि मध्यम मार्ग ही सर्वोत्तम होगा। वह सर्वोत्तम मार्ग बिना दोनों ओर से उदारता का हाथ पसारे मिल नहीं सकता। परंपराप्रेमी यदि यह समझते हैं कि बिना परंपरा की रक्षा के हमारे साहित्य की आत्मीयता नष्ट हो जायगी, तो उन्हें यह भी समझना चाहिए कि केवल पुरखों की कमाई होने के कारण अब पुरानी चीजों की पूजा करने के लिये नई आँखवाले तैयार नहीं; नई दुनियाँ में उनकी आँखे चौंधियाने के लिये काफी सामान है। यदि शास्त्रप्रेमी प्राचीन शास्त्रों में नई दुनिया के लिये भी कुछ ग्राह्य तथ्य होने का दावा करते हैं तो उनका कर्तव्य है कि संकीर्णता को त्याग कर वे नए ढंग से उनपर विचार और उनकी व्याख्या करें तथा नवीनता के बहिष्कार की प्रवृत्ति छोड़कर उसमें जो अच्छाई है उसका भी उचित उपयोग करें। नवीनों से यह निवेदन करना अनुचित न होगा कि न सब पुरानी चीजें खराब ही होती है और न सब नई चीजें अच्छी ही। हम अपना वर्तमान और भविष्य, अतीत की उपेक्षा करके नहीं, प्रत्युत अतीत का सदुपयोग करके ही बना सकते हैं। पुरानी चीजों को खराब समझने का एक प्रबल कारण यह भी है कि हम परिश्रम से भागना चाहते हैं, उन्हें धीरता-

पूर्वक समझने का प्रयत्न करना व्यर्थ समझते हैं। हमारी मनोवृत्ति में यह एक ऐसा दोष है जो हमें साहित्य में क्या, किसी भी क्षेत्र में स्थायित्व ग्रहण नहीं करने देगा। सच बात तो यह है कि जहाँ हम अंग्रेजी आदि की समालोचनाशैलियों से लाभ उठाने की इच्छा रखते हैं वहाँ यदि अपने पुराने काव्य-समीक्षा-सिद्धांतों का भी मनोयोगपूर्वक अध्ययन कर सकें तो अपने ढंग से हम अपने ही लिये नहीं, संसार के सभ्य साहित्य के लिये एक अनुकरणीय पद्धति उपस्थित कर सकते हैं। इसके लिये, जैसा कि स्वर्गीय पं० रामचंद्र शुक्ल का कथन है, "···हमें अपनी रस-निरूपण-पद्धति का आधुनिक मनोविज्ञान आदि की सहायता से खूब प्रसार और संस्कार करना पड़ेगा। इस पद्धति की नींव बहुत दूर तक डाली गई है; पर इसके ढाँचों का नए नए अनुभवों के अनुसार अनेक दिशाओं में फैलाना जरूरी है।" *

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि रसपद्धति के कालोपयुक्त संस्कार और प्रसार के लिये तद्विषयक प्राचीन मूल ग्रंथों का अध्ययन तो अनिवार्य है ही, साथ ही आधुनिक साहित्यिक प्रवृत्तियों को भी यदि ध्यान में न रखा जायगा

* काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ १५१

तो वह अध्ययन अधूरा ही रहेगा। आधुनिक समालोचना जहाँ प्रकाशतः रसपद्धति से तटस्थ हो रही है वहाँ उसने साहित्य के नए विस्तार के साथ कुछ ऐसे नए मार्ग खोल दिए हैं, कुछ ऐसे नए विचारों को विकसित कर लिया है, जो हमें शुद्ध कलात्मक दृष्टि के अतिरिक्त और भी कई दृष्टियों से साहित्य की परीक्षा करने के लिये बाध्य करते हैं। विज्ञान की बढ़ती हुई उन्नति तथा विभिन्न-देशीय राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विचार-क्रांतियों ने अनेक प्रकार की रूढ़ियों पर कुठाराघात करने के साथ साथ साहित्य को भी कई ओर से अपने आक्रमण का लक्ष्य बना लिया है। यद्यपि शुद्ध साहित्यिक को यह बात कुछ भोंडी सी लगेगी, पर है यह सत्य, इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विस्तार-भय से इस विषय पर यहाँ पूर्ण प्रकाश नहीं डाला जा सकता, पर साहित्यशास्त्र के सच्चे विद्यार्थी से शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से ही दो बातें निवेदन कर देना आवश्यक है।

पहली बात यह है कि समालोचना के सिद्धांतों का आधार साहित्य है, साहित्य का अध्ययन करने के उपरांत ही सिद्धांत निश्चित किए जाते हैं। अतः उनके विवेचन के समय केवल परंपराप्राप्त सिद्धांतों का ही अध्ययन काफी

नहीं है, स्वतंत्र दृष्टि से साहित्य का स्वयं अध्ययन करके उन सिद्धांतों की सत्यता की जाँच करना भी आवश्यक है। यह कार्य तभी हो सकता है जब समालोचक स्वयं केवल विद्वान् नहीं, उच्च कोटि का सहृदय भी हो। यदि समालोचक सरसहृदय है तो वेद, दर्शन भाषाविज्ञान, व्याकरण और साहित्यशास्त्र आदि के ज्ञान से उसके कार्य में अवश्य सहायता मिलेगी; अन्यथा उसके ज्ञान का फल काव्य के लिये विपरीत भी हो सकता है। *

दूसरी बात यह है कि अब संसार के सभी देश कई दृष्टियों से एक दूसरे के बहुत निकट होते जा रहे हैं। उनकी संस्कृति और राजनीतिक परिस्थिति एक दूसरे के

---

* साक्षरा विपरीताश्चेद्राक्षसा एव केवलम्।
सरसो विपरीतश्चेत्सरसत्वं न मुञ्चति ॥

भाव यह कि विद्वान् यदि हृदयहीन हो तो विपरीत अवस्था में वह राक्षसवत् भी आचरण कर सकता है, परंतु सहृदय मनुष्य सब दशाओं में सहृदय ही रहता है। इस श्लोक में उक्ति का चमत्कार भी देखिए––'साक्षरा' को उलट कर पढ़ें तो 'राक्षसा' हो जाता है (विसर्गलोप, संधि के कारण), पर 'सरस' को उलटकर पढ़ने से वह 'सरस' ही रहता है !

कितनी ही प्रतिकूल हो, पर यह सिद्ध है कि विश्व मात्र का मानवहृदय एक है, उसके भाव और उसकी इच्छाएँ सब एक सी हैं। साहित्य हृदय की वस्तु है। अतः यह भी निश्चित है कि विभिन्न देशों के साहित्य में वह सामान्य एकता मौजूद है जिसके आधार पर समालोचना का एक सामान्य आदर्श (World standard of criticism) स्थापित किया जा सकता है। कुछ परिश्रम करने से सभी सभ्य देशों के पुराने और नए साहित्यों और समीक्षापद्धतियों का अध्ययन हमारे लिये इस युग में असंभव नहीं है; और इस अध्ययन के आधार पर यदि समालोचना का एक सामान्य और बुद्धिसंगत आदर्श उपस्थित किया जा सके तो निस्संदेह इस बीसवीं शताब्दी की चंचलता में वह एक बहुत बड़ा और स्थायी साहित्यिक कार्य होगा। हिंदी में इस विषय की ओर ध्यान देनेवाली केवल एक पुस्तक लेखक की दृष्टि में आई—श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी लिखित 'विश्व-साहित्य'। शायद यह अपने विषय की एक ही पुस्तक है और अपने उन्नत विचार के लिये निस्संदेह प्रशंसनीय है। परंतु वह केवल विषय की भूमिकामात्र है और उसमें भी अध्ययन और समन्वय के दृढ़ आधार

एवं परिपक्व परिणाम के अभाव के कारण विद्यार्थी को किसी निश्चित पथ का अवलंब नहीं मिल सकता।

अब आधुनिक हिंदी समालोचना की ओर आइए। पहले समालोचना शब्द ही के विषय में यह कहना है कि सिद्धांत-पक्ष और प्रयोग-पक्ष (Principles of criticism and Actual criticism) दोनों के लिये एक ही शब्द का उपयोग करने से कहनेवाले का अभिप्राय ठीक ठीक व्यक्त नहीं होता। प्रयोगपक्ष के लिये, अर्थात् किसी ग्रंथ वा ग्रंथसमुदाय की समालोचना के लिये तो 'आलोचना' या 'समालोचना' शब्द ठीक है, किंतु जिन नियमों और सिद्धांतों के अनुसार उनकी समालोचना की जाती है उनका समावेश 'समालोचनाशास्त्र' या पुराने प्रचलित शब्द 'साहित्यशास्त्र' में होना चाहिए। साहित्यशास्त्र कहलाने योग्य हिंदी में अभी तक कोई ग्रंथ प्रस्तुत नहीं हुआ है, कदाचित् यही कारण है इस शब्द के अल्प प्रयोग का।

हिंदी में उपयुक्त साहित्यशास्त्र के अभाव में भी समालोचनाएँ हो रही हैं और तेजी से हो रही हैं, किंतु हमें बुरा न मानना चाहिए यदि कोई कहे कि हमारी अधिकतर समालोचनाओं का रूप अनभ्यस्त अंधी दौड़ के समान है

जिसमें लक्ष्य तक पहुँचना तो कठिन, पर ठोकर, धक्के और वाग्युद्ध की संभावना सहज है। प्रयोगात्मक समालोचना के अभी तक हिंदी में पाँच रूप रहे हैं—

(१) इतिहास

(२) तुलना

(३) भूमिका

(४) परिचय

(५) किसी एक कवि या उसकी किसी रचना की विस्तृत आलोचना।

(१) साहित्य का इतिहास कुछ बीती घटनाओं का संग्रहमात्र नहीं है, वह मानवीय भावप्रवाह का इतिहास है जिसे लिखने के लिये समालोचनात्मक अंतर्दृष्टि समन्वित सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता होती है। इसलिये साहित्य का इतिहास सफाई के साथ समालोचना के क्षेत्र के भीतर ले लिया जा सकता है। कवि-वृत्त-संग्रह (यथा 'मिश्रबंधु विनोद') भी साहित्य के विद्यार्थी के लिये उतना ही उपयोगी है जितना साहित्य का और कोई अंग, पर उसकी उपयोगिता दूसरे प्रकार की है, वह समालोचना की सीमा में नहीं आता। 'इतिहास सदा अपूर्ण रहता है' इस विचार को यदि थोड़ी देर के लिये

अलग रखें तो कह सकते हैं कि यद्यपि हिंदी साहित्य के कई आलोचनात्मक इतिहास प्रस्तुत किए जा चुके हैं किंतु अभी तक सबसे अधिक प्रामाणिक माना जानेवाला पूर्ण इतिहास पं० रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखित एवं नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' ही है। हाँ, नई खोजों के परिणामस्वरूप इसके भी अनेक तथ्यों पर पुनः विचार करने की आवश्यकता उत्पन्न हो गई है। इतिहास तथा समालोचना के विद्यार्थी को इसकी तथा अन्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत इतिहासों की समीक्षा कर इनके तथा नई खोजों के आधार पर इतिहास-निर्माण के कार्य को आगे बढ़ाना चाहिए।

संपूर्ण इतिहास के अतिरिक्त किसी एक काल, संप्रदाय, विषय अथवा प्रवृत्ति (यथा आधुनिक हिंदी साहित्य, संत-साहित्य, काव्य में प्रकृति, रहस्यवाद, आदर्शवाद और यथार्थवाद, भक्ति इत्यादि) का अध्ययन कर आंशिक इतिहास भी प्रस्तुत किए गए और किए जा रहे हैं। संपूर्ण इतिहास प्रस्तुत करने की दिशा में यह महत्त्वपूर्ण कार्य है। परंतु यह कार्य ऐसे सुनियोजित ढंग और अनुसंधानात्मक दृष्टि से होना चाहिए कि जो अध्ययन प्रस्तुत हों वे

अपने आप में इतने पूर्ण हों कि एक दूसरे में व्याप्त न होकर एक दूसरे के पूरक हों।

(२) दो कवियों को एक पंक्ति में बैठाकर तुलना की दृष्टि से उनके गुणदोष-विवेचन की प्रवृत्ति पुरानी है। किसी साहित्य के आठ, नौ या न्यूनाधिक कवियों को चुनकर उन्हें विशेष आदर प्रदान करना तुलना नहीं है, पर उन्हें प्रथम द्वितीय आदि क्रमस्थान देना तुलनात्मक समालोचना के भीतर आ जायगा। इस प्रकार का प्रयत्न सर्वप्रथम मिश्रबंधुओं द्वारा 'हिंदी नवरत्न' में किया गया। हिंदी में कुछ दिनों तक इसकी बड़ी धूम रही और देव-बिहारी तथा तुलसी-सूर आदि पर काफी बहस चली। पर पं० पद्मसिंह शर्मा और लाला भगवानदीन के बाद इसमें जिंदादिली के साथ दिलचस्पी लेनेवाला कोई नहीं रहा। तुलनात्मक समालोचना अब सिद्धांतविरुद्ध मानी जाने लगी है। समालोचना के क्षेत्र में इसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए यह ठीक है, पर यह भी ठीक है कि जब तक साहित्य का अध्ययन होता रहेगा तब तक स्वरुचि के आधार पर कवियों या लेखकों में श्रेणीविभाग करने की कम से कम व्यक्तिगत प्रवृत्ति तो सदा बनी रहेगी।

(३) हिंदी में सबसे अधिक व्यवस्थित, मार्मिक

और हृदय-बुद्धि-समन्वित समालोचनाएँ आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा तुलसी, जायसी और सूर की हुईं। ये आलोचनाएँ यद्यपि आलोच्य ग्रंथों की भूमिका के रूप में लिखी गईं तथापि इनमें समालोचकों के ही लिये नहीं, साहित्य-शास्त्रियों के लिये भी अत्यंत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। उनके महत्त्व का एक सबसे बड़ा कारण यह है कि उनके पीछे एक ऐसी ठोस पद्धति है जो यद्यपि लेखक द्वारा कहीं क्रमबद्ध और व्यवस्थित रूप में लिखी नहीं गई है, पर जो प्राचीन और नवीन समालोचनाशैली के अत्यंत सरस और विवेकपूर्ण समन्वय पर स्थित है। भले ही इस समन्वय में त्रुटियाँ दिखाई पड़ें परंतु इससे उनकी दृष्टि और उनके कार्य का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं हो सकता।

प्राचीन ग्रंथों के संपादन के साथ साथ भूमिका-शैली का जोर बढ़ता ही रहा है और उनमें से अधिकांश पर शुक्ल जी का प्रभाव बराबर दिखाई पड़ता है जो सर्वथा उचित है; पर आँखें मूँदकर केवल उसी के पीछे दौड़ना ठीक नहीं। अच्छा हो यदि ग्रंथ की पूरी व्याख्या के साथ इस शैली की सफलता दिखलाने का प्रयत्न किया जाय।

(४) हिंदी समालोचना का चौथा प्रकार है परिचयात्मक समीक्षा। पत्र-पत्रिकाओं में ग्रंथ वा लेखक के परिचय के रूप में बहुत सी छोटी-मोटी आलोचनाएँ निकला करती हैं। ऐसी आलोचनाओं में अनेक सद्‌बुद्धि से लिखी हुई तथा उच्च कोटि की भी होती हैं परंतु अधिकांश का उद्देश्य केवल किसी की निंदा और किसी की स्तुति करके अपने अथवा अपने मित्र कवि या लेखक के नाम का विज्ञापन करना होता है। यह प्रवृत्ति प्रशंसनीय नहीं है। समालोचना के इसी क्षेत्र में सबसे अधिक अनुशासन की आवश्यकता है, क्योंकि यदि ये परिचय शुद्ध भाव से योग्य समालोचक द्वारा लिखे जायँ, तो इनके द्वारा जनता में साहित्यिक सुरुचि को यथेष्ट प्रोत्साहन मिल सकता है।

(५) किसी एक कवि को लेकर उसकी समस्त या कुछ रचनाओं का सम्यक् अध्ययन—उनका ऐतिहासिक और तुलनात्मक विवेचन, उनकी साहित्यिक समीक्षा, उनमें कवि की प्रतिभा के विकास का अन्वीक्षण आदि—भी समालोचना के क्षेत्र में अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस प्रकार भी समालोचना प्रयोगात्मक होने पर भी उससे इतिहास और सैद्धांतिक आलोचना की भी आंशिक पूर्ति ठोस रूप में होती है। हिंदी में कबीरदास और तुलसीदास पर

इस प्रकार का अच्छा अध्ययन हुआ है और पृथ्वीराज-रासो जैसे प्राचीन और बृहद् ग्रंथ तथा प्रसाद आदि प्रमुख आधुनिक कवियों का भी अध्ययन हो रहा है। परंतु इस प्रकार के अध्ययन के लिये भी वही बात आवश्यक है जो इतिहास के संबंध में ऊपर कही जा चुकी है, अर्थात् वह ऐसे सुनियोजित ढंग से होना चाहिए कि जितना अंश हाथ में लिया जाय उतने का अध्ययन व्यापक और पूर्णांग हो। विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों में इस प्रकार का अच्छा अनुसंधानात्मक अध्ययन हो रहा है।*

यह तो हुई समालोचना के प्रयोग-पक्ष की बात। अब जब हम सिद्धांत-पक्ष की ओर आते हैं तो हमें कुछ निराशा सी होती है। दो-चार छिटके निबंधों के अतिरिक्त कोई सर्वांगपूर्ण पद्धति प्रस्तुत करने का प्रयत्न कहीं दिखाई नहीं पड़ता। शुक्ल जी के 'कविता क्या है' और 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबंध इस दिशा में आंशिक कार्य हैं। उनका 'रस-मीमांसा' ग्रंथ अवश्य इसकी बहुत कुछ पूर्ति करता है। परंतु पूर्ण समालोचनापद्धति प्रस्तुत करने का

---

* द्रष्टव्य नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५७ अंक १, पृ० ६१, 'हिंदी में खोज और आलोचना कार्य' (डा० धीरेंद्र वर्मा)।

गुरुतर कार्य अभी अधूरा ही पड़ा हुआ है। ऐसी अवस्था में बाबू श्यामसुंदरदास का 'साहित्यालोचन' ही अब तक अधिकांश विद्यार्थियों का सुरक्षित आधार बना हुआ है, विशेष कर विश्वविद्यालयों के छात्रों की सामयिक आवश्यकता की इससे काफी पूर्ति हुई है। पर भावी साहित्यशास्त्री को भी इसकी उपेक्षा नहीं करनी होगी। हमारी समझ में अब हिंदी साहित्य के विद्वानों को एक अच्छे सर्वांगपूर्ण साहित्य-शास्त्र की कमी पूरी करने की ओर शीघ्र ध्यान देना चाहिए।

परिशिष्ट २

प्रतिभा

कवि में काव्य-रचना की एक विशेष प्रकार की शक्ति होती है, यह सभी मानते हैं। परंतु यह शक्ति क्या है और किस प्रकार प्राप्त होती है, इसके विषय में कोई एक निश्चित मत नहीं है। हिंदी साहित्य में समालोचकों ने कवि की कल्पना और रसानुभूति आदि का विवेचन अवश्य किया है परंतु उपर्युक्त शक्तिविशेष पर पृथक् रूप से विचार करने की आवश्यकता नहीं समझी है। वैसे काव्यरसिकों में इसके संबंध में अनेक प्रकार के विचार प्रचलित हैं। कोई समझता है कि सगण-भगण और लघु-गुरु गिनना आ जाय तो कवि बनने में देर लगने का

कोई कारण नहीं। कोई कहता है कल्पना ही काव्य की आदि जननी है। किसी का कहना है कि कवित्वशक्ति का मूल प्रेम है, जब तक किसी इंदुमुखी के नयनवाण से विद्ध होकर छटपटा न उठे, तब तक कविता खाक नहीं बन सकती। किसी का विश्वास है कि कविता करते समय कवि भावावेश में रहता है और किसी दैवी शक्ति से प्रेरित होकर अपने मानस से अनायास बीसों छंद प्रति घंटे के हिसाब से कविता का अप्रतिहत स्रोत बहा देता है। कविवर सुमित्रानंदन पंत ने कविता का आदि कारण वियोग को अनुमानित किया है—

वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान।
उमड़कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान॥

साधारणतः यूरप में भी इस प्रकार के विचार प्रचलित रहे हैं, परंतु वहाँ के विद्वानों ने कवि की रचनाशक्ति को विशेष महत्त्व देकर उसपर अधिक गंभीरतापूर्वक विचार किया है। इस शक्ति को उन्होंने 'फ़ैंसी' (Fancy), 'इमैजिनेशन' (Imagination), 'जीनियस' (Genius), 'इंट्यूशन' (Intuition) आदि नाम दिए हैं, यद्यपि इनके स्वरूप के विषय में उनके विचारों में थोड़ा बहुत अंतर रहा है। 'फ़ैंसी' और 'इमैजिनेशन' को हमने कल्पना तथा

'जीनियस' को प्रतिभा कहा है। इनका उल्लेख पहले (पृ० ६६-७०, ७७-७६) किया जा चुका है और कल्पना की चर्चा आगे भी की जायगी। 'इंट्यूशन' वह विशेष प्रकार का ज्ञान है जिसमें ज्ञान का विषय इकबारगी पूर्ण रूप में मन को प्रत्यक्ष हो जाता है; उसमें ज्ञान की कोई प्रक्रिया लक्षित नहीं होती, अर्थात् किस प्रकार वह प्रत्यक्ष होता है इसे हम जान नहीं पाते।

यद्यपि उपर्युक्त मनःशक्तियों अथवा ज्ञान के प्रकारों पर आधुनिक मनोविज्ञानी पंडितों ने भी विस्तृत रूप से विचार किया है, परंतु इंगलैंड के प्रसिद्ध साहित्य-समालोचक आई० ए० रिचर्ड्स समालोचनाशास्त्र को कवि-मानस की परीक्षा तक बढ़ाने की सलाह नहीं देते; क्योंकि काव्य-रचना में कवि के मन की क्रिया बहुत-कुछ अबुद्धि-पूर्वक होती है और इसी कारण उसके काव्य के आधार पर उसके उपर्युक्त विशिष्ट ज्ञान अथवा शक्ति तथा काव्य-रचना संबंधी उसकी मानसिक प्रक्रिया के मनोवैज्ञानिक परीक्षण में भयंकर भूलें हो जाने की संभावना है।*

---

* Principles of Literary Criticism, chap. iv.

भारतीय आचार्यों ने भी इस विषय के बहुत अधिक मनोवैज्ञानिक विवरण में जाने की आवश्यकता नहीं समझी है, परंतु कवि की काव्यरचना करनेवाली विशिष्ट शक्ति का महत्त्व वे अवश्य स्वीकार करते हैं और उसे उन्होंने 'प्रतिभा' नाम दिया है। राजशेखर द्वारा प्रतिपादित कवि की कारयित्री प्रतिभा का उल्लेख आचार्य केशव जी ने इस पुस्तक की भूमिका में किया है। रसगंगाधर के कर्ता पंडितराज जगन्नाथ ने कवि में इस प्रतिभा के उदित होने के दो कारण भी बताए हैं—एक तो किसी देवता या महापुरुष की कृपा, दूसरे व्युत्पत्ति और अभ्यास। आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रतिभा की व्याख्या इस प्रकार की है—'प्रतिभा अपूर्व-वस्तु-निर्माण-क्षमा प्रज्ञा' *। अर्थात् अपूर्व वस्तुओं के निर्माण में समर्थ बुद्धि का नाम प्रतिभा है। सहृदयों को प्रतिभा का 'अनुमान' नहीं होता अपि तु वह रसावेश के कारण 'भासित' होती है, इसी से उसका नाम प्रतिभा है—'प्रतिपत्तृन् प्रति सा प्रतिभा नानुमीयमाना अपितु तदावेशेन भासमानेत्यर्थः'। †

जीनियस, इमैजिनेशन, इंट्यूशन, प्रतिभा आदि भिन्न-भिन्न नामों से जो व्याख्याएँ की गई हैं उनसे अभिप्राय

*, † ध्वन्यालोक, १।६ की लोचन टीका।

एक ही वस्तु का है–वह वस्तु है कवि की एक विशिष्ट शक्ति जिसके द्वारा वह काव्यरचना करता है। थोड़े-बहुत अंतर से वे सभी व्याख्याएँ उसपर घट सकती हैं, अतः वे परस्पर-विरोधिनी न होकर एक दूसरे की पूरक कही जा सकती हैं। हमने उस शक्ति का नाम प्रतिभा ही स्वीकार कर उसे कल्पना और रुचि का समन्वय माना है। कल्पना और भावना प्रतिभा के पर्याय नहीं हैं, यह आगे स्पष्ट हो जायगा।

कल्पना और भावना

अंग्रेजी में 'इमैजिनेशन' (Imagination) शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। हिंदी में इसी को 'कल्पना' कहते हैं। इसके छः भिन्न भिन्न अर्थों का उल्लेख आइ० ए० रिचर्ड्स ने अपनी 'काव्यालोचन के सिद्धांत' नाम की पुस्तक में किया है।* आजकल प्रतिभा के ही अर्थ में उसका प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है। इस अर्थ को ध्यान में रखकर जो लोग कल्पना ही को काव्य का कारण कहते हैं उनसे हमें कोई शिकायत नहीं। परंतु कल्पना को

* I. A. Richards, Principles of Literary Criticism, chap. xxxii.

प्रतिभा का पर्याय मान लेने से उसमें तथा साधारण कल्पना में कोई भेद नहीं रह जाता। अतः दोनों को पृथक् रूप में समझना उचित है।

स्मृति और ज्ञान के बल पर स्थान और वस्तु के भेद से नए रूपविधान और रूपग्रहण करनेवाली मनःशक्ति का नाम कल्पना है। बढ़ई, चित्रकार, कवि, शिल्पकार और अन्य सभी प्रकार के लोग इसका समान रूप से प्रयोग कर सकते हैं। बढ़ई ने मेरे घर में लकड़ी की साधारण कुर्सी देखी थी। वह उसकी स्मृति में विद्यमान है। अपने तत्संबंधी ज्ञान के आधार पर वह एक ऐसी कुर्सी की 'कल्पना' कर सकता है जो उससे बड़ी हो, गद्दीदार हो, घूमनेवाली हो तथा अधिक सुंदर और आराम देनेवाली हो। उस कल्पना के सहारे वह वैसी कुर्सी बाह्य साधनों को जुटा कर जब चाहे प्रस्तुत कर सकता है। अपनी उस कल्पना को वह शब्दों द्वारा भी व्यक्त कर सकता है और सुनने-वाला उसका वर्णन सुनकर अपने मन में उस कल्पित कुर्सी की कल्पना कर सकता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझिए।

'भावना' शब्द का प्रयोग हमने जिस अर्थ में किया है उसमें तथा रूपग्रहण और रूपविधान मात्र करनेवाली

सामान्य कल्पना में थोड़ा सा अंतर यहाँ स्पष्ट कर देना उचित होगा। 'स्मृत' अथवा 'कल्पित' वस्तु के प्रति हमारा कोई रागात्मक संबंध होना अनिवार्य नहीं है। परंतु यदि वह कोई ऐसी वस्तु हो जिससे हमारा कोई रागात्मक संबंध हो, जैसे गुलाब का फूल, भयानक अजगर या सुंदर रमणी, तो तत्तद्भाव से प्रेरित कल्पना को 'भावना' कहना ठीक होगा। अर्थात् भावना कल्पना का भावमय रूप है।

प्रतिभा में कल्पना के सब गुण विद्यमान होते हैं, परंतु सभी प्रकार की अनर्गल और बे सिरपैर की कल्पना को प्रतिभा नहीं कह सकते। प्रतिभा में कल्पना की विचित्रता और नवीनता के साथ लोकरुचि की बुद्धि और व्यवस्था भी मिली रहती है। यदि भावना कल्पना का भावमय रूप है तो प्रतिभा भावना का रुचि-नियंत्रित रूप। अतः कवि के संबंध में प्रतिभा का अर्थ समझना चाहिए भावप्रेरित और रुचि-नियंत्रित कल्पना।

रुचि

काव्य की रचना में कल्पना भाव से प्रेरित होकर और रुचि से नियंत्रित रहकर अपना काम करती है। इसे

स्पष्ट करने के लिये पहले हम रुचि पर ही विचार करेंगे। पीछे भाव पर।

प्रायः जब मुझे कोई वस्तु सुंदर लगती है तो मैं कह देता हूँ कि 'यह सुंदर है'। मेरे इस कथन में यह विश्वास छिपा हुआ रहता है कि मेरा इसे सुंदर कहना बिल्कुल ठीक है, दूसरे लोग भी इसे अवश्य सुंदर कहेंगे। पर जब मैं कहता हूँ कि 'मुझे यह वस्तु सुंदर लगती है' तो उसका तात्पर्य यह होता है कि दूसरे इसे सुंदर कहें या न कहें, मेरे लिये तो यह अवश्य सुंदर है। पहले कथन में लोकरुचि की प्रधानता है जिसमें मेरी रुचि भी मिली हुई है। अन्य लोग जिसे सुंदर कहते हैं उसे सुंदर कहकर मैं भी अपनी सहृदयता का प्रमाण देता हूँ। दूसरे कथन में व्यक्तिरुचि प्रधान है। मैं जिसे सुंदर कहता हूँ, अच्छा हो यदि दूसरे लोग भी उसे सुंदर कहें; पर कम से कम मैं तो अपना निश्चय नहीं बदल सकता।

लोकरुचि क्या है?

कहा है—'भिन्नरुचिर्हि लोकः'।

संसार में जितने व्यक्ति, उतने ही प्रकार की रुचि। किन्हीं दो व्यक्तियों की भी रुचि सर्वथा समान नहीं होती। यह ठीक है। तो फिर लोकरुचि कैसी?

बात यह है कि प्राकृतिक और सांसारिक परिस्थितियों की असमानता के कारण जहाँ मनुष्यों में इतनी भिन्नता है वहाँ उनमें कुछ ऐसी तात्त्विक एकता भी है जिसके आधार पर अगणित व्यक्तियों के हृदय एक दूसरे से मिल जाते हैं। मनुष्य समूह या समाज में रहने के लिये स्वभावतः विवश है, अतः अपनी इस समूहवृत्ति के तोष एवं सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये उसे अपने व्यक्तिगत रुचिवैचित्र्य को बहुत कुछ दबा देना पड़ता है। तभी मानवहृदय की उक्त तात्त्विक एकता के उदय से वह अपने को असंख्य के साथ मिला सकने में समर्थ होता है। असंख्य की रुचि के साथ उसकी रुचि मिलकर एक हो जाती है।

इस रुचि का निर्माण शिक्षा, संस्कार और अभ्यास द्वारा होता है। अपने कल्याण की दृष्टि से प्रत्येक समाज के कुछ निश्चित सिद्धांत होते हैं। समाज के व्यक्तियों की शिक्षा-दीक्षा उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर होती है। इस शिक्षा दीक्षा तथा चिरकाल के अभ्यास से उन व्यक्तियों के मन में एक प्रकार की संस्कृत बुद्धि बन जाती है। यह बुद्धि यद्यपि लोकबुद्धि ही होती है, पर अभ्यास द्वारा उसके स्वभावगत हो जाने के कारण मनुष्य

उसे अपनी ही आत्मचेतना (Conscience), धर्मबुद्धि या और कुछ कहता है। इसी बुद्धि के द्वारा वह अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं और कार्यों के औचित्य की परख करता है। यह परखने की क्रिया जब लक्षित रूप में होती है, तो उसे 'विवेक' कहा जाता है। जब निरंतर विचार और आचरण द्वारा अभ्याससिद्ध हो जाने के कारण वह असंलक्ष्य रहती है, अर्थात् जब हम बिना कारणादि का विचार किए ही तत्काल किसी वस्तु के औचित्य पर अपना निर्णय दे सकते हैं, तो उसे रुचि कहते हैं। जिस प्रकार वस्तुओं के संबंध में उनके उचित-अनुचित या भली-बुरी होने का निर्णय करनेवाली रुचि का निर्माण होता है, ठीक उसी प्रकार उन्हें सुंदर-असुंदर कहनेवाली रुचि का भी। दोनों का कारण लोक की दृष्टि से देखने का अभ्यास है।

सुनसान जंगल में कंधे पर लाठी रखे, ढोरों के पीछे मस्त चाल से जाता हुआ अकेला चरवाहा जब बिरहे की तान छेड़ता है, तो उसे इसकी तनिक भी चिंता नहीं रहती कि मैं गर्दभ स्वर में गा रहा हूँ या श्वान राग अलाप रहा हूँ। उस समय वह अपनी ही रुचि में लीन रहता है। पर जब एक कवि एकांत में बैठकर अपनी कल्पना को शब्दों तोमें उतारकर उसे लेखबद्ध करने का प्रयास करता है,

प्रायः एक बार लिखकर अनेक बार उसे पढ़ता है। ठीक नहीं बना; फिर उसे काट देता है। इस प्रकार जब तक उसकी रचना उसे ठीक नहीं जँचने लगती, वह उसे काटता जाता है।

यह 'ठीक नहीं', ऐसा कहकर उसकी गति में बाधा डालनेवाली कौन सी प्रेरणा है? वही उसकी लोकरुचि है, जिससे उसकी रुचि अभिन्न हो गई है। उसके हृदय में संस्कार रूप से बैठी हुई वही उसकी व्यक्तिगत कल्पना का नियंत्रण करती है। यदि कवि अपनी कविता दूसरे के लिये न लिखता तो उसे काटने-छाँटने की क्या, कागज पर लिखने की ही आवश्यकता न पड़ती। जब तक कविता कवि के अतिरिक्त दूसरों की भी चीज समझी जायगी तब तक कवि की व्यक्तिगत कल्पना को उसकी रुचि का नियंत्रण सहना ही पड़ेगा।

भाव

कविता करने के लिये भाव का होना आवश्यक है। बिना कोई भाव मन में उठे कविता नहीं बन सकती; बन जाय तो वह सहृदयों की वस्तु नहीं हो सकती। कवि के मन में कोई भाव प्रबल हो उठता है; कल्पना का काम

उसी भाव को साकार कर देना है, जिससे दूसरे भी उसका अनुभव कर सकें।

हमारे जीवन में अगणित वस्तुओं और घटनाओं से हमारा संबंध होता है। हमारे मन पर उनका कुछ प्रभाव पड़ता है, अथवा हमें उनका कुछ अनुभव होता है। ये अनुभव वस्तुभेद से असंख्य प्रकार के होते हैं। कुछ अनुभव अपनी प्रियता या कटुता के कारण अधिक तीव्र होते हैं। बार बार होने के कारण वे मन में वासनारूप से जम जाते हैं। कोई कारण उपस्थित होते ही वे फिर जाग उठते हैं। ऐसे ही अनुभव काव्य में 'भाव' कहे जाते हैं।*

कुछ भाव इतने प्रबल होते हैं कि वे हमें तल्लीन कर लेते हैं। वे ही विभावादि के संयोग से रसावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। उन्हीं भावों को 'स्थायी भाव' कहते हैं। 'रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते।'

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि भावों और रसों की संख्या ठीक ठीक निश्चित नहीं की जा सकती। वे अनंत हो सकते

---

* आचार्य भरत के मत से 'भाव' का अर्थ है काव्यार्थों को वा कवि के अंतर्गत भावों को भावित करनेवाला—'काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः', 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते' (नाट्यशास्त्र, सप्तम अध्याय)।

हैं। महाकवि तुलसीदास ने संभवतः इसी लिये कहा है—'भाव भेद रस भेद अपारा।' पर साहित्यशास्त्र में तो भावों की संख्या निश्चित कर दी गई है—स्थायी भाव आठ और ग्यारह के भीतर भीतर, और संचारी भाव वही तैंतीस।

भावों के उपर्युक्त भेद मिथ्या नहीं हैं। वे भेद भी वासना की तीव्रता के आधार पर ही किए गए हैं। पर उनकी निश्चित संख्या की उपयोगिता साहित्यशास्त्र के विद्यार्थियों के लिये जितनी है उतनी सिद्ध कवियों के लिये नहीं। सिद्ध कवियों के लिये तो अपार भेद ही सत्य हैं।

भावों की संख्या कितनी ही हो, पर मूल भाव दो ही हैं। जितने अनुभव हमें होते हैं उनमें से कुछ हमारे अनुकूल होते हैं और कुछ प्रतिकूल। कुछ हमारे राग के सूचक होते हैं और कुछ द्वेष के। 'राग' और 'द्वेष' * को ही काव्य में क्रम से 'रति' और 'विरति' कह सकते हैं। हमारे समस्त

---

* द्रष्टव्य—द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ (नागरीप्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित), 'रसमीमांसा'; काव्य में रहस्यवाद, पृ० २, ,जीवन सौंदर्य के दो पक्ष'।

भाव और अनुभव रति और विरति, इन दो मूल भावों के अंतर्गत आ जाते हैं। †

यहाँ भाव की एक प्रकार से ऐतिहासिक व्याख्या कर उसे समझने का प्रयत्न किया गया है। जो अध्यात्मवादी या आदर्शवादी दार्शनिक पंडित वस्तु की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार न कर भाव की वस्तु-निरपेक्ष सत्ता मानते हैं वे उक्त व्याख्या को स्वीकार नहीं करते। परंतु जब तक लौकिक वस्तुओं में हर्ष शोक आदि की कारणता तथा काव्यगत विभावादि में रति आदि भावों के उद्बोधन की शक्ति मानी जाती है तब तक इस दार्शनिक मतभेद से काव्य के आस्वादन में कोई बाधा नहीं पड़ सकती।

रस की अलौकिकता

इस पुस्तक के पाँचवें प्रकरण में प्रसंगात् रस की कुछ चर्चा आई है और उसी संदर्भ में रस की अलौकिकता का भी उल्लेख हुआ है। वहाँ अलौकिक का अर्थ है—जो लौकिक नहीं है, लौकिक से विलक्षण, अर्थात् जो लोक में देखा सुना नहीं जाता। रस के आचार्यों ने इसी अर्थ में रस को अलौकिक कहा है। परंतु उन्होंने रस को अलौकिक क्यों कहा, इसका कुछ स्पष्टीकरण आगे किया जाता है।

† द्रष्ट०—इस पुस्तक का दूसरा प्रकरण, पृष्ठ १५।

वस्तुतः रस के आदि आचार्य भरत मुनि ने तो उसे अलौकिक कहा नहीं,—उन्होंने तो यही कहा कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है—हाँ, नाट्यशास्त्र तथा ध्वन्यालोक के टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त ने अवश्य उसे अलौकिक बताया और उसका कारण भी दिया। उनके मत से इसकी 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' या 'ज्ञप्ति' नहीं, अपितु उसकी 'चर्वणा' अर्थात् उसका 'आस्वादित होना' है। अर्थात् रस विभावादिकों से इस प्रकार उत्पादित नहीं होता जैसे लोक में कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है; न रस इस प्रकार ज्ञापित ही होता है जैसे लोक में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अन्य वस्तुएँ ज्ञापित होती हैं। लोक में सभी वस्तुएँ या तो उत्पादित होती हैं, या ज्ञापित होती हैं, परंतु रस इन दोनों से विलक्षण है, अतएव अलौकिक है। विभावादिक रस को उत्पन्न करनेवाले कारक वा ज्ञापक* हेतु नहीं हैं, अपितु वे चर्वणोपयोगी हैं, अतः वे भी अलौकिक हैं।

---

* कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है, वह घड़े का कारक हेतु हुआ। अँधेरे में घड़ा रखा है, दिखाई नहीं देता, पर दीपक के प्रकाश से दिखाई देने लगता है, यहाँ दीपक घड़े का ज्ञापक हेतु हुआ।

साहित्यदर्पणकार ने इसे और विस्तार से बताया है—रस न तो ज्ञाप्य है, न कार्य है, न नित्य है, न भविष्यत् है, न वर्तमान है, न निर्विकल्पक ज्ञान है, न सविकल्पक ज्ञान है, न परोक्ष ज्ञान है, न अपरोक्ष ज्ञान है अपितु वह इन सबसे विलक्षण है, ऐसा है जैसा कहीं लोक में देखा सुना नहीं जाता, अतएव वह अलौकिक है।

(१) रस ज्ञाप्य नहीं हैं; क्योंकि ज्ञाप्य वस्तुओं के संबंध में ऐसा संभव है कि वस्तु की सत्ता तो हो पर किसी कारण हमें उसका ज्ञान न हो, पीछे किसी हेतु से ज्ञान हो जाय; परंतु रस के संबंध में ऐसा नहीं है। रस की सत्ता उसकी प्रतीति में ही है, होने पर स्वयं अनुभूत होगा, किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

(२) रस कार्य भी नहीं है; क्योंकि कारण से कार्य की उत्पत्ति होने पर कार्य के साथ कारण की स्थिति नहीं रहती, परंतु रस की प्रतीति जब तक होती है तब तक उसके हेतु रूप विभावादिकों की भी सत्ता रहती है।

(३) रस नित्य भी नहीं है; क्योंकि ऐसा होता तो विभावादिक के ज्ञान के पूर्व भी उसकी अनुभूति होती, परंतु उसकी अनुभूति तभी तक होती है जब तक विभावादिक रहते हैं।

(४) रस भविष्यत् भी नहीं है; क्योंकि भविष्यत् में होनेवाली वस्तु का अनुभव नहीं होता और रस का तो साक्षात् अनुभव होता है।

(५) रस वर्तमान भी नहीं है; क्योंकि लोक में वर्तमान सभी वस्तुएँ ज्ञाप्य या कार्य होती हैं, परंतु जैसा ऊपर कह चुके हैं, रस न ज्ञाप्य है न कार्य।

(६) रस निर्विकल्पक ज्ञान भी नहीं है; क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह किस प्रकार का है या उसका विषय क्या है। उसका कोई प्रकार या विषय नहीं होता। परंतु रस की प्रतीति आनंदमय होती है और उसमें विभावादि का ज्ञान रहता है।

(७) रस सविकल्पक ज्ञान भी नहीं है; क्योंकि इस प्रकार के ज्ञान का विषय शब्दों द्वारा प्रकाशित किया जा सकता है, परंतु रस को शब्दों में नहीं कहा जा सकता।

(८) रस परोक्ष ज्ञान भी नहीं है; क्योंकि उसका साक्षात् अनुभव होता है।

(९) रस अपरोक्ष ज्ञान भी नहीं है; क्योंकि वह काव्य के शब्दों से ही उत्पन्न होता है।

इस प्रकार इन सबसे विलक्षण रस अवश्य ही अलौकिक होगा। इसे मानने में कोई आपत्ति नहीं। परंतु हमने जिस विशेष बात की ओर ध्यान दिलाने का प्रयत्न किया है (पृष्ठ ५७-६२) वह यह है कि लौकिक कारणों से उत्पन्न लौकिक सुख-दुःख, और अलौकिक विभावादि से साधारणीकरण की क्रिया द्वारा आस्वादित अलौकिक रस, दोनों में यह अंतर इसी कारण तो होता है कि लौकिक सुख-दुःख के कारण लोक में प्रत्यक्ष तथा व्यक्ति से संबद्ध होते हैं और रस के हेतु रूप विभावादिक काव्य में वर्णित होने पर किसी एक व्यक्ति के न रहकर (साधारणीकृत होकर) अपरिमित रूप से सभी सहृदयों को अनुभूत होते हैं। दूसरी बात यह है कि विभावादिकों का वर्णन भी ऐसा हो जो सहृदयों की रुचि के अनुकूल हो (सहृदयश्लाघ्य हो), तभी उनका साधारणीकरण हो सकेगा, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह कि विभावादिक किसी एक व्यक्ति के न रहकर जो साधारणतया प्रतीत होते हैं अर्थात् उनका जो साधारणीकरण होता है उसके दो कारण हो सकते हैं—(१) वे काव्य में वर्णित होते हैं, (२) वे इस रूप में वर्णित होते हैं कि सहृदयों द्वारा श्लाघ्य हों। अथवा जो सहृदयश्लाघ्य नहीं वह काव्य ही नहीं, ऐसा मान लें

तो एक ही कारण हुआ—विभावादिकों का इस प्रकार शब्दों में वर्णित होना जो सहृदयों द्वारा श्लाघ्य हो।